

समरथ



सितम्बर — अक्टूबर 2006

नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

देश का पेट खाली लेकिन देश न्युक्विलयर बमों से भरा। किसान आत्महत्या करें, मज़दूर बेरोज़गार हो जायं, लेकिन इंडिया शाइनिंग। देश भर में दंगे हों और फीलगुड। सरकार बदली — भाषा बदली लेकिन काम वही ! ऊपर से नारा — गरीबी हटाओ। सब तो दावे से अमृत बरसा रहे हैं। हाँ, न तो 1951 में नागार्जुन ने 'अमरित' बरसता देखा न ही आज का कोई कवि, बुद्धिजीवी या फिर सामाजिक कार्यकर्ता कहीं अमृत बरसता देख रहा है।

मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?

नागार्जुन

बजरंगी हूँ नहीं कि निज उर चीर तुम्हें दरसाऊँ !
रस-वस का लवलेश नहीं है, नाहक ही क्यों तरसाऊँ ?
सूख गया है हिया किसी को किस प्रकार सरसाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
नभ के तारे तोड़ किस तरह मैं महाराब बनाऊँ ?
कैसे हाकिम और हकूमत की मैं खैर मनाऊँ ?
अलंकार के चमत्कार मैं किस प्रकार दिखलाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
गज की जैसी चाल, हरिण के नैन कहाँ से लाऊँ ?
बौर चूसती कोयल की मैं बैन कहाँ से लाऊँ ?
झड़े जा रहे बाल, किस तरह जुल्फें मैं दिखलाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
कहो कि कैसे झूठ बोलना सीखूँ और सिखलाऊँ ?
कहो कि अच्छा-ही-अच्छा सब कुछ कैसे दिखलाऊँ ?
कहो कि कैसे सरकंडे से स्वर्ण-किरण लिख लाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
कहो शंख के बदले कैसे घोघा फूँक बजाऊँ ?
महंगा कपड़ा, कैसे मैं प्रियदर्शन साज सजाऊँ ?
बड़े-बड़े निर्लज्ज बन गए, मैं क्यों आज लजाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
लखनऊ-दिल्ली जा-जा मैं भी कहो कोच गरमाऊँ ?
गोल-मोल बातों से मैं भी पब्लिक को भरमाऊँ ?
भूलूँ क्या पिछली परतिज्ञा, उलटी गंग बहाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?

चाँदी का हल, फार सोने का कैसे मैं जुतवाऊँ ?
इन होठों में लोगों से कैसे रबड़ी पुतवाऊँ ?
घाघों से ही मैं भी क्या अपनी कीमत कुतवाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
फूँक मारकर कागज पर मैं कैसे पेड़ उगाऊँ ?
पवन-पंख पर चढ़कर कैसे दरस-परस दे जाऊँ ?
किस प्रकार दिन-रैन रामधुन की ही बीन बजाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
दर्द बड़ा गहरा किस-किससे दिल का हाल बताऊँ ?
एक की न, दस की न, बीस की, सबकी खैर मनाऊँ ?
देस-दसा कह-सुनकर ही दुख बाँटूँ और बँटाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
बकने दो, बकते हैं जो, उनको क्या मैं समझाऊँ ?
नहीं असम्भव जो मैं उनकी समझ में कुछ न आऊँ ?
सिर के बल चलनेवालों को मैं क्या चाल सुझाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
जुलमों के जो मैल निकाले, उनको शीश झुकाऊँ ?
जो खोजी गहरे भावों के, बलि-बलि उन पे जाऊँ !
मैं बुद्ध, किस भाँति किसी से बाज़ी बँदूँ-बदाऊँ ?
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?
पंडित की मैं पूँछ, आज-कल कबित-कुठार कहाऊँ !
ज़ालिम जोकों की जमात पर कस-कस लात जमाऊँ !
चिंतक चतुर चाचा लोगों को जा-जा निकट चिढ़ाऊँ !
तुम्हीं बताओ मीत कि मैं कैसे अमरित बरसाऊँ ?

जरूरत से ज़्यादा प्रतिक्रिया

प्रफुल्ल बिदवई

आज़ादी की वर्षगांठ पर लाल किले की सुरक्षा के अभूतपूर्व बंदोबस्त किसी भी पैमाने से दरपेश खतरों के लिहाज से जरूरत से ज़्यादा और अविचारित थी। भारतीय जनता ने इस ज़्यादाती के प्रति कुछ संदेह और नाराजगी प्रकट की है। सुरक्षा की ज़्यादातियों के रूप में भावी आतंकवादी खतरे के प्रति सरकार ने जो अधिक प्रतिक्रिया दिखाई उसके पीछे तीन कारण थे। पहला, मुंबई में 11 जुलाई के बम धमाकों ने सरकारी अधिकारियों को हैरत में डाल दिया था और वे उन्हें अंजाम देने वालों और उनके इरादों को और जिन एजेंसियों के साथ ऐसे लोगों के संबंध थे, उन्हें पहचानने में अब तक विफल रहे हैं। उन बम धमाकों के बाद सरकारी अधिकारी इस बात के लिए चिंतित थे, कि कहीं उनसे अबकी बार कोई चूक न हो जाए।

दूसरा, 10 अक्टूबर को लंदन और अमेरिका के बीच उड़ने वाले 10 हवाई जहाज़ों को बम से उड़ाने के कथित षड्यंत्र में पाकिस्तानी मूल के अधिकतर लोगों की धड़-पकड़ ने पश्चिमी स्थापनाओं में इस बात का भय बढ़ा दिया था कि अलकायदा समूह एक और हमला कर सकता है। इसी घटना की पृष्ठभूमि में अमेरिकी दूतावास ने भारत में रह रहे अमेरिकी नागरिकों को हिदायत दी कि अलकायदा आतंकवादी नई दिल्ली, मुंबई या उनके आसपास के हवाई अड्डों, सरकारी कार्यालयों और बाज़ारों को अपना निशाना बना सकते हैं। यही सूचना अमेरिकी खुफिया विभाग ने भारत सरकार को भी दी। सरकार ने तुरंत अपने हवाई यात्रियों पर वही प्रतिबंध लागू कर दिए जो लंदन में लागू किए गए थे, बिना यह सोचे-समझे कि दोनों जगहों के हालात अलग-अलग थे। हालांकि इसके दूसरे ही दिन अमेरिकी खुफिया एजेंसी ने अपनी पहले वाली सूचनाओं को 'कुछ ज़्यादा काल्पनिक अर्थों' में समझने का आग्रह करते हुए कहा कि यह 'किसी निश्चित सूचना' पर आधारित नहीं थी। लेकिन सरकार ने इस स्पष्टीकरण को अनसुना करके खतरे के जायज़े, चेतावनी के स्तर और सुरक्षा प्रतिबंधों को कम करने के बजाए और भी बढ़ा दिये।

इसी पृष्ठभूमि को आधार बनाते हुए अब हम तीसरे कारण पर आते हैं : राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एम. के. नारायणन ने एक नया निर्णायक जायज़ा लिया है कि लश्कर-ए-तैयबा जिसके बारे में यह माना जाता है कि उसने भारत में कई आतंकवादी कार्रवाइयों को अंजाम दिया है, अब अलकायदा नेटवर्क में शामिल हो गया है। इस प्रकार अलकायदा वास्तविक रूप में भारत पहुंच चुका है और देश अब 'भूमंडलीय आतंकवाद' का निशाना बन चुका है। इसकी वजह से सुरक्षा व्यवस्था में एक गुणात्मक परिवर्तन आया है।

यदि वास्तव में ऐसा हुआ है तो निश्चित रूप से यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण नई स्थिति पैदा हो गई है। लेकिन इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए एक अकाद्य वजनदार, ठोस और निश्चित प्रमाण की जरूरत होती है। लेकिन श्री नारायणन ने ऐसा कोई लेशमात्र भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। इस बारे में न तो कोई दस्तावेज और न नए तथ्य उनके हाथ लगे हैं। यह एकदम गैर जिम्मेदाराना निष्कर्ष है जो एक पारदर्शी शासन के सभी प्रतिमानों का उल्लंघन करता है। इसके अलावा जनहित में इस बात का प्रबल कारण बनता है कि राष्ट्र को इन नए जायज़ों का तथ्यात्मक आधार बताया जाए।

सही औपचारिक खुलासों या श्वेत पत्र के ज़रिए ठोस प्रमाण प्रस्तुत किए जाने के बजाए हमारे पास सिर्फ एक व्यक्ति का बयान है या फिर मीडिया में असत्यापित और बिना हवाले की खबरें हैं, जिनमें कहा गया है, 'एक अतिशय लंबा व्यक्ति है, जो विदेशी भाषा बोलता है और संकेतों से भोजन और ठौर की मांग करता है। वह 30 सदस्यों वाली अलकायदा इकाई का सरगना है और लश्कर, जैश-ए-मोहम्मद और हिजबुल मुजाहिदीन जैसे आतंकवादी समूहों से हाथ मिला चुका है'...आदि-आदि। इस तरह की बातें वायरलेस पर सुनी गई, बताई गई हैं, किंतु वायरलेस पर सुनी गई बात अविश्वसनीय होती है और इसके गलत अर्थ लगाए जा सकते हैं। यह साबित करने के लिए यथार्थ प्रमाण की जरूरत है कि ओसामा बिन लादेन और अल जवाहिरी जो भागे फिर रहे हैं या उनके आदमी भारत में सक्रिय जंगजुओं को किन ज़रियों से निर्देश दे सकते हैं। ब्रिटिश पुलिस भी हीथ्रो साजिश में ऐसे संबंधों का पता लगाने में नाकाम रही है।

तो इस प्रकार के कमजोर साक्ष्य के आधार पर भारत में अलकायदा के पहुंचने की डुगडुगी पीटना निश्चित रूप से गैर जिम्मेदाराना कदम है। इससे पूर्णतः खेदजनक नहीं तो कम से कम आपत्तिजनक उद्देश्यों की पूर्ति होती है। पहला तो यह कि अलकायदा हमारे सामने एक अतिमान व शैतानी और अपराजेय ताकत की तस्वीर बनाता है, जिससे अमेरिका भी अपने नागरिकों को नहीं बचा सका तो फिर भारत की क्या बिसात? दरअसल, अलकायदा का नाम लेने से भारतीय खुफिया एजेंसियों की निष्क्रियता और अक्षमता पर पर्दा पड़ सकता है। यह एक बहाना है, जवाबदेही और परिश्रमपूर्वक तथ्यों को ढूँढ निकालने और उनको एक साथ जोड़ने के कर्तव्य से बचने का। दूसरा, आतंकवादी खतरे को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने से जनता के बीच खासतौर पर मध्य वर्ग में आतंक और भय फैलता है। इस प्रकार के माहौल से टाडा और

शेष पृष्ठ 10 पर.....

परिधि पर खड़ी स्त्री के चुकते नहीं सवाल

कंचन यादव

बीसवीं शताब्दी की केंद्रीय चेतना मुक्ति कामना है इसका पूर्वाद्ध राष्ट्रीय मुक्ति का समय है जिसमें मजदूर-किसानों के साथ-साथ महिला वर्ग और दलित - पिछड़ा समाज की अविस्मरणीय भूमिका रही है किन्तु इनकी इस प्रतिम भूमिका को न केवल नज़र अंदाज़ किया गया वरन् इन्हें दोगम दर्जे का जीवन जीने को बाध्य भी किया गया। यह ठीक है कि अतीत हुई सदी के उत्तरार्द्ध में, संविधान-प्रदत्त अधिकारों का लाभ उठाकर खासतौर से महिला वर्ग और दलित वर्ग अपनी अलग पहचान बनाने तथा अलग व्यक्तित्व निर्माण करने में कामयाब हुआ, किन्तु सवाल केवल प्रबुद्ध-महिला वर्ग एवं सुविधाभोगी-दलितवर्ग का ही नहीं है वरन् उस बहुसंख्यक किसान-कामगार स्त्री और दलित-स्त्री तथा दलितों में भी दलित जनों का भी है जो आज भी प्रथम दर्जे की नागरिकता तथा सामान्य मानवीय अधिकारों के लिए छटपटा रहे हैं। स्वाधीनता-आंदोलन के दौरान गौण हो गये 'नारी मुक्ति' और 'दलित-मुक्ति' के मुद्दों का मूल कारण यही रहा है। आज़ादी के बाद से ही लगातार आकार ग्रहण कर रहा महिला-लेखन तथा विगत बीस-पचीस वर्षों का दलित-लेखन समकालीन हिन्दी साहित्य को नया आयाम प्रदान करता है, जिसे रेखांकित किया जाना साहित्येतिहास की सही समझ और सही परख के लिए अत्यंत आवश्यक ही नहीं वरन् प्रासंगिक भी है। यद्यपि, भले ही 'महिला लेखन' की समानान्तर दुनिया को साहित्येतिहास में थोड़ी सी जगह दे दी गई हो किन्तु 'दलित-लेखन' की वहाँ चर्चा तक नहीं है; मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया डॉ. बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' हमें यही सूचना देता है।

महिला-लेखन का मूल आधार वह 'स्त्री-विमर्श' है जो 'नारी-मुक्ति' की दो मूलभूत अंतर्राष्ट्रीय विचार-सरणियों 'मार्क्सवाद' एवं 'नारीवाद' के सकारात्मक पक्षों को आत्मसात करके भारतीय संदर्भ में नया रूप ग्रहण कर रहा है। 'मार्क्सवाद' नारी-प्रश्न का विवेचन द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पद्धति तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से करने का प्रस्ताव रखता है, जिसकी वैज्ञानिक प्रासंगिकता आज भी सदिग्ध है। नारी-प्रश्न के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं आर्थिक आधारों को गंभीरता पूर्वक व्याख्यायित एवं विश्लेषित करने वाले मार्क्स एवं एंगेल्स, सर्वहारा वर्ग की मुक्ति में ही 'नारी मुक्ति' का समाधान प्रस्तावित करते हैं क्योंकि मुक्ति अकेले में नहीं मिलती। भूमंडलीकृत-प्रौढ़ पूँजीवादी दौर में भी हम इस तथ्य और सत्य को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। किन्तु हम इस सच्चाई से भी मुँह नहीं मोड़ सकते कि वर्ग-विभक्त समाज में नारी का शोषण और दमन वर्गीय आधार के अलावा यौनता (यौनता का प्रश्न) 'मार्क्सवाद' से पूर्व ही उठाया जा चुका था किन्तु इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार 'समाजवादी-नारीवाद' द्वारा सम्भव हुआ जो वस्तुतः मार्क्सवाद और नारीवाद का संश्लेषित रूप इसी मायने में है कि महिला उत्पीड़न की समस्या को मार्क्सवादी सिद्धांत की परिधि-वर्गीय फ्रेमवर्क के भीतर रहकर सुलझाने का प्रयास हो। सामाजिक संरचना के विश्लेषण में

महिलाओं की स्थिति और उत्पीड़न के प्रश्नों पर समग्रता में विचार करना भी अपेक्षित होगा ताकि जेंडर श्रम विभाजन और पूँजीवादी-पितृसत्ता के अंतर्सम्बन्धों को भी जाँचते-परखते हुये महिलाओं के विशेष उत्पीड़न को भी समझा-परखा जा सके और पुरुष वर्चस्व की मानसिकता से बचाव की दिशा में प्रयास किया जा सके। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि वामपंथी विचारों की सिमोन द बोवुआर भी समाजवादी नारीवाद की अगली कड़ी है जिन पर सार्त्र के अस्तित्ववाद का रंग गहरा रहा है। उनकी पुस्तक 'द सेकण्ड सेक्स' को पश्चिमी समाज में 'आधुनिक नारीवाद' के विकास में युगान्तकारी घटना के रूप में रेखांकित किया जाता है। स्त्री की पूर्ण स्वाधीनता अर्थात् यौन मुक्ति की वकालत करने वाली मुक्ति के प्रसंग में इसका विशेष महत्व इस मायने में है कि इसमें नारी की स्वतंत्र अस्मिता और समाज में उसकी स्वतंत्र पहचान के मुद्दे पर संजीदगी से विचार हुआ। साठ-सत्तर के दशक में पश्चिमी समाज में चले नारी मुक्ति आंदोलन तथा आठवें-नवें दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिला वर्ष और फिर महिला दशक मनाये जाने के बाद विश्व-मंच से उठे लैंगिक-न्याय की पुरजोर मांग के मूल में इस पुस्तक की भूमिका को नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता।

इधर, हमारे देश में नारी मुक्ति चेतना का विकास पश्चिमी-समाज से भिन्न रूप में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दौरान उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ हुआ। यह सही है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में महिलाएं एकजुट हुईं किन्तु नारी मुक्ति का वैचारिक आधार खड़ा करने में बंग महिला, शिवरानी प्रेमचन्द्र, महादेवी वर्मा तथा 'चांद' एवं 'माधुरी' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नारी मुक्ति आंदोलन के तीसरे-चौथे दशक की महत्वपूर्ण देन महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कड़ियाँ' वस्तुतः भारत में नारी मुक्ति संघर्ष का घोषणा-पत्र है। उनकी इस पुस्तक का प्रकाशन 'बोवुआर' के 'सेकण्ड सेक्स' से पूर्व ही हो जाता है। इस पुस्तक के सारे निबन्ध डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार (तद्भव-3) तीस के दशक में प्रसिद्ध पत्रिका चांद के सम्पादकीय लेखों के रूप में प्रकाशित हुए थे। अतः यह कहना कि साठ-सत्तर के दशक की भारतीय नारी मुक्ति चेतना पश्चिम के 'आधुनिक नारीवाद' से ही प्रेरणा ग्रहण कर रही थी, वस्तुतः अपनी जातीय परम्परा के विकास की अवहेलना करना होगा। महादेवी वर्मा मार्क्सवादी नहीं थीं किन्तु उनकी स्थापनायें मार्क्सवाद के करीब हैं। इस पुस्तक में वह आर्थिक आत्मनिर्भरता को नारी मुक्ति की बुनियादी शर्त के रूप में रेखांकित करती हैं तथा पुरुष प्रधान समाज में नारी की सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक गुलामी से मुक्ति के लिए मानसिक जड़ता को तोड़ने-खत्म करने का आह्वान 'बोवुआर' से बहुत पहले ही कर देती हैं। ध्यान से देखा जाये तो 'उत्तर शती' का सारा-का-सारा सकारात्मक महिला लेखन इसी नींव पर खड़ा दिखाई देता है।

हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि सातवें-आठवें

दशक की नारी मुक्ति चेतना की महत्वपूर्ण देन मृणाल पाण्डे की पुस्तक 'परिधि पर स्त्री' वस्तुतः 'श्रृंखला की कड़ियाँ' का बदली हुई परिस्थितियों में नारी विमर्श का नया प्रारूप है। मैं नहीं जानती कि मृणाल पाण्डे मार्क्सवादी-वामपंथी हैं अथवा नहीं, फिर भी नारी-विमर्श की उपरोक्त अंतर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय पृष्ठभूमि की चर्चा किये बगैर भी अपनी स्थापनाओं के साथ उसी जमीन पर खड़ी दिखाई देती हैं। मृणाल पाण्डे यह भली भाँति जानती और समझती हैं कि नारीवाद का सवाल काफी उलझा हुआ है तथा पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था इसे और उलझाने की चेष्टा करती आई है। 'प्राक्कथन उर्फ हाशिए पर मित्र-संलाप' की मूल चिंता यही है। नारीवाद को पश्चिमी दर्शन कहकर खारिज कर देना, औरत को ही औरत का दुश्मन साबित करने का षड्यंत्र रचकर तथा औरतों पर पुरुष-द्रोही होने का आरोप लगाकर स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के सामने ला खड़ा कर प्रकारान्तर से नारी-आन्दोलन को तोड़ने की कोशिश करना, शहरों एवं महानगरों में घर एवं परिवार के टूटने-बिखरने की जिम्मेदारी मध्यवर्गीय कामकाजी औरतों के मध्ये मढ़ना, समाज में और घर-परिवार में भी आर्थिक शोषण और यौन शोषण की शिकार होने वाली औरतों एवं लड़कियों के शिकायत करने पर उन पर ही 'एडजस्ट' न कर पाने की तोहमत लगाना और नारी-संगठन को मात्र शहरों एवं महानगरों तक सीमित रहने वाला बताकर उसे संकुचित एवं सीमांकित करने का प्रयास करना आदि वह प्रतिगामी विचार हैं जिन्हें उभारकर पितृसत्ता एन केन प्रकारेण पुरुष वर्चस्व को कायम रखने का जो षड्यंत्र रचती हैं, वह एक जागरूक कथा-लेखिका और खोजी महिला-पत्रकार की नज़र से ओझल नहीं हो सकता। यही कारण है कि किसी गफलत में न पड़कर मृणाल पाण्डे नारीवादी-आन्दोलन को दिग्भ्रमित या विपथित करने वाले ऐसे प्रतिगामी विचारों का खुलकर प्रतिवाद करते हुए न केवल सम्पूर्ण नारी जाति के लिए अपितु वृहत्तर समाज के लिए भी एक बेहतर विकल्प की तलाश का आह्वान भी करती हैं।

मृणाल पाण्डे नारीवाद को एक व्यापक-समग्र दर्शन मानती हैं। नारीवाद की उनकी अवधारणा में सम्पूर्ण भारतीय नारी के अलावा अन्य दलित तथा निम्न जनों के लिए भी पर्याप्त गुंजाइश है - 'नारीवाद कतई स्त्रियों को वृहत्तर समाज से अलग-थलग रखकर देखने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं। यह तो एक समग्र दृष्टिकोण है, जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोषित प्रवंचित स्त्रियों की स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके उसके उजास में उन्हें अपने पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की क्षमता देता है। साथ ही उनके प्रति एक तरह की सदयता तथा कर्मठ दायित्वबोध भी जगाता है। (परिधि पर स्त्री-पृ. 47) कहना न होगा कि समग्र दृष्टिकोण वाली इस नारीवादी धारणा में सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण की उजास से उपजे दायित्वबोध से विकसित होनेवाली अंतर्दृष्टि का विवेक सम्मत उपयोग करने के कारण ही समकालीन महिला-लेखन में खासतौर से कथा-लेखन में लेखिकायें (जिनमें मृणाल पाण्डे भी शामिल हैं) नारी के आत्मसंघर्ष के साथ-साथ दलित-पिछड़ा समाज और अल्पसंख्यक वर्ग के अलावा अन्य शोषित, पीड़ित एवं प्रताड़ित निम्न जनों के संघर्ष को सामने लाते हुए मानव मुक्ति की वकालत करती हुई, महिला लेखन को समग्र लेखन

की ओर अग्रसर करती दिखाई देती हैं।

मृणाल पाण्डे लक्ष्य करती हैं कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर औरतें ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से पुरुषों की तुलना में शैक्षिक, आर्थिक और पारिवारिक रूप से कमजोर हैसियत रखती हैं। दोयम दर्जे का जीवन जीने को अभिशप्त नारी का भारतीय संदर्भ तो और भी दयनीय दशा की सूचना देता है। हमारे यहाँ मुँह खोलने तक की आजादी नहीं है। जब अरुन्धती राय चौधरी जैसी विदुषियों को सार्वजनिक मंच से वेद पाठ करने से रोक दिया जा सकता है, तब ऐसे में सामान्य स्त्री की क्या दशा होगी; अंदाजा लगाया जा सकता है। ऐसे धार्मिक कठमुल्लेपन पर यही कहा जा सकता है - 'मन न रंगाए-जोगी कपड़ा' -। जहाँ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर ही लाख पहरे हैं वहाँ अन्य वैधानिक एवं संवैधानिक तथा मौलिक एवं मानवीय अधिकारों की बात करना दूर की कौड़ी लाने समान है। भारतीय नारी घर और परिवार में परावलम्बी तो है ही राजनीति में भी परमुखापेक्षी है। यही वजह है कि कुल आबादी का आधा हिस्सा होने के बावजूद भी लोकतांत्रिक प्रणाली में अपनी कोई सार्थक पहचान नहीं बना पाई है। संसद में विभिन्न राजनैतिक पार्टियों में जो छिटपुट महिला-प्रतिनिधि हैं भी वह भी या तो पितृसत्ता के सुर में सुर मिलाती हुई दिखाई देती हैं या फिर एकमत नहीं हैं वरना महिला आरक्षण बिल के अब तक पास न होने का कोई और कारण नहीं है। इसलिये मृणाल पाण्डे वृहत्तर नारी समाज को राजनीति की मुख्यधारा में आने (लाने) का आह्वान करते हुए लिखती हैं - "यदि स्त्रियाँ सचमुच लोकतंत्र की सार्थक शक्ति बनना चाहती हैं, तो अब समय आ गया है, कि लोकतंत्र में स्थायित्व और पारदर्शिता चाहने वाले सभी संगठनों तथा चुनाव-आयोग के साथ मिलकर वे राजनीति की ऊर्जा को सही उम्मीदवारों तथा साफ सुथरे संगठनों की मार्फत लगातार एक ऐसी ताकत में तब्दील करने में जुट जायें जिसके मूल में सच्चे सहकार की भावना हो, वहशी सत्ता लोलुपता नहीं।" (वही पृ. 28)

पूँजीवादी-साम्राज्यवाद से गठजोड़ करने वाली पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की रखवाली करता दृश्य और प्रिंट मीडिया नारी-जाति को उपभोक्तावादी संस्कृति की गुलाम-व्यक्ति से वस्तु बनाने पर आमादा है। एक तरफ वह वृहत्तर नारी समाज को यह सीख देता हुआ कि सौंदर्य उसके जीवन का सबसे बड़ा धन है और पति-परिवार को प्रसन्न रखना उसके जीवन का महानतम उद्देश्य, उसे मूढ़ और पराधीन बने रहने तथा अन्याय और अत्याचार को सहते हुए किसी भी प्रकार का प्रतिवाद न करने की दीक्षा देता आ रहा है। दूसरी तरफ उच्च मध्यवर्गीय नारी समाज को अपनी देह का मालिक बनने का प्रशिक्षण देते हुये, उन्हें अंगप्रदर्शन से जुड़ी मध्यवर्गीय वर्जनाओं की अवहेलना करने का पाठ पढ़ाने के साथ-साथ पुरुष समाज की विकृत यौन कुंठाओं-लालसाओं की प्रतिपूर्ति में भी लगा हुआ है। मुनाफा सरकार एवं पितृसत्ता का भी हो रहा है और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भी। यहाँ तक पितृसत्ता और उसके प्रतिनिधि मौन-व्रत धारण किये रहते हैं। किन्तु जैसे ही कोई अंजलि कपूर वर्जनाओं की हद पार करने को उद्यत होती है, यौन-शुचिता, संस्कार और परम्पराएँ-लिजलिजी परिभाषायें और व्याख्यायें आड़े आ जाती हैं, पूछा जा सकता है कि कनीजाओं-अमीनाओं को खूसट बूढ़े शेखों के हाथ भेड़-बकरियों की तरह बेचे जाने और भंवरीबाई

के साथ होने वाले धिनौने सामूहिक-बलात्कार के समय पितृसत्ता के ये प्रतिनिधि एवं अधिवक्ता किस मांद में घुसे रहते हैं? उस समय यौन-शुचिता, संस्कार और परम्परा की परिभाषायें न्यायालय के किस पुस्तकालय के सात-तालों में बन्द रहती हैं? बहरहाल विडम्बना यही है कि यौन-शुचिता संस्कार और परम्परा की विकलांग परिभाषाओं की मार झेलती अंजलि कपूरों को कितनी आजादी होगी इसका फैसला भी पितृसत्ता के वही प्रतिनिधि करेंगे जो इन परिभाषाओं को तोड़ते-बनाते हैं। छोटे पर्दे पर स्त्री, अपराध का सार्वजनिक महिमा मंडन क्यों, अंजलि कपूर: नारीवाद और मीडिया का अर्द्धसत्य, आदि कथा-रिपोर्टों (जिसमें फूलन देवी के त्रासद जीवन की वह कथा भी शामिल है जिस पर फिल्म बनाकर शेखर कपूर अपनी विकृत कलावाद की खाज मिटाते हैं) के माध्यम से मृणाल पाण्डे सम्भवतः यही कहना चाहती हैं कि अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी उपभोक्तावदी संस्कृति तथा उससे सांठ-गांठ करने वाली पितृसत्ता के खिलाफ संगठित होने में ही 'नारी मुक्ति संघर्ष' की सार्थकता है जो प्रकारान्तर से महिला लेखन की प्रासंगिकता को भी रेखांकित करना है।

सामान्यतः लोग कामकाजी औरतों का आशय मात्र संगठित क्षेत्रों में कार्यरत निश्चित और नियमित वेतन पाने वाली कामगार औरतों से लगाते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में महिला कामगार लगी हुई हैं। संगठित क्षेत्रों में लगी महिलायें जहाँ 'छँटनी' के संकट को झेल रही हैं। 'वहीं' असंगठित क्षेत्रों में लगी महिलायें एक तो कार्यगत असुरक्षा की शिकार हैं दूसरे इन्हें कामगार माना ही नहीं जाता। विडम्बना यह कि इनके काम किये बिना इनके परिवार नहीं पलते और इनकी संख्या कुल महिला आबादी का नब्बे फीसदी है। सरकारी बहियों में कामगार की कोटि में शामिल न करके इन्हें गृहिणी के खाते में खतियाया गया है। इनका फैलाव गाँव से लेकर महानगर-शहर और कस्बे की झुग्गी-झोपड़ियों तक है। अन्न उत्पादन, डेरी पालन, हथकरघा या निर्माण कार्य में लगी औरतें हों या अगर्बत्ती, पापड़ दियासलाई और पटाखा उद्योगों में लगी औरतें, बाँस की लकड़ी का काम करने वाली, कंडे और दोना-पत्ते बनाने वाली, शहद और जड़ी बूटियाँ इकट्ठा करके बेचने वाली औरतें हों या कताई, बुनाई, रँगई, कुटाई-पिसाई और पैकेजिंग के धंधे में लगी हुई औरतें हों, सभी कार्यरत असुरक्षा की शिकार हैं। गरीबी के इस महिलाकरण का कोई नाम लेने वाला नहीं है। 'आर्थिक उदारीकरण' और श्रम कानूनों की छतरी की छाँह से वंचित इन गरीब महिलाओं का कोई पुरसाहाल नहीं है।

हमारे देश में लोकतंत्र की छाँह में नवोन्मेषशालिनी और पतनशीलता की प्रवृत्तियाँ एक साथ पल-बढ़ रही हैं। समाज में दिन-प्रतिदिन घटने वाली घटनाओं की मार्फत इसे आसानी से समझा-परखा जा सकता है। मृणाल पाण्डे इसे चण्डीगढ़ काण्ड एवं भंवनीबाई कांड के मार्फत रेखांकित करती हैं। चण्डीगढ़ कांड में जहाँ एक उच्च पदस्थ राजनेता के लाडले द्वारा विदेशी युवती का अपहरण और फिर उसके साथ बलात्कार के रूप में हैवानियत, सामंती ऐंठ और पतनशीलता की प्रवृत्तियों का खुलासा होता है वहीं भंवरीबाई कांड में अपने गांव में गैर कानूनी बाल-विवाह रोकने का बीड़ा उठाने वाली भंवरी को उसके इस सामाजिक पुनरुत्थान के कार्य के एवज में समाज के ठेकेदारों, लोकतंत्र के तीमारदारों और पितृसत्ता के रखवालों

की ओर से यह पुरस्कार मिला कि पहले उसे आर्थिक और सामाजिक रूप से बहिष्कृत किया गया और फिर उसके साथ सामूहिक-बलात्कार जैसा धिनौना कुकृत्य सम्पन्न हुआ। इतना ही नहीं उसके पति और बच्चों को भी जाति और समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। बावजूद इसके यह दुर्द्धर्ष जिजीविषा वाली दलित और उत्पीड़ित स्त्री जीवन से हार नहीं मानती है - 'यदि आप एक दलित हैं उस पर औरत जात तो प्रताड़ना और उत्पीड़न आपके जीवन का अनिवार्य हिस्सा बनते चले हैं। अधिकतर औरतें इसे अपनी नियति मान कर हर तरह के अत्याचार और अन्यायों को मूक होकर झेलती आई हैं। लेकिन भंवरी का उदाहरण है कि धीमे-धीमे ही सही, एक नई लोकतांत्रिक चेतना अब वहाँ (दलित स्त्री समाज में) भंवरी जैसी औरतों की मार्फत प्रवेश करने लगी है। अन्याय के आगे टूटना नहीं, झुकना नहीं और अपनी सच्चाई पर अड़े रहना।' (वही पृ. 40) कहना न होगा कि तमाम बाधाओं के बावजूद अपने पति, अपनी संगी-साथिनों तथा अपनी भीतरी सत्य निष्ठा से ताकत अर्जित करने वाली दलित-स्त्री भंवरी बाई के रूप में भारतीय स्त्री की संघर्षशील वेतना और नैतिक-गरिमा के पुनर्स्थापित होने का यह प्रयास, और उसके द्वारा अन्याय का प्रतिरोध करने, उसे चुनौती देने और अन्याय के आगे हथियार न डालने की यह प्रेरणा, नारी मुक्ति चेतना और संघर्ष को नया आयाम प्रदान करता है। इसे रेखांकित कर मृणाल पाण्डे 'नारी मुक्ति' के एजेण्डे में दलित-स्त्री को शामिल किये जाने की पुरजोर माँग करती दिखाई देती हैं।

नारी मुक्ति चेतना की अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और भारतीय नारी मुक्ति आंदोलन की चर्चा किये बगैर भी मृणाल पाण्डे नारीवाद की व्यापक अवधारणा प्रस्तुत कर इसे वृहत्तर समाज से जोड़ते हुए इसकी सार्थकता और प्रासंगिकता को रेखांकित करती हैं और यह लक्ष्य करती हैं कि हमारी सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक, रूढ़ियाँ, कानून और सम्पत्ति के अधिकार की जो व्याख्यायें हैं उसके तहत समूची नारी जाति न तो 'श्रद्धा' है और न ही 'पीयूष' का स्रोत बल्कि वह केवल पितृसत्ता की 'टारगेट' है। पितृसत्ता के इस टारगेट का तोड़ना-वेधना ही वह विकल्प होगा (अब हाशिए पर बैठकर लहरें गिनने का सुहाना समय जा चुका है, जो लड़ेगा नहीं वह भी मारा जायेगा) जो परिधि पर खड़ी स्त्री को केंद्र की ओर आगे बढ़ने का रास्ता दिखाएगा। केंद्र की ओर बढ़ने का रास्ता दिखाने का अटूट सिलसिला कायम करती पुस्तकों दुर्ग द्वार पर दस्तक (कात्यायनी), स्त्री का समय (क्षमा शर्मा) स्त्रीत्व का मानचित्र (अनामिका), नारी-प्रश्न (सरला महेश्वरी) तथा चुकते नहीं सवाल (मृदुला गर्ग) से अभी और आगे जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। नारी मुक्ति चेतना से संपृक्त इन विचारोत्तेजक पुस्तकों की लेखिकाएँ पूरी तटस्थता और प्रतिबद्धता के साथ नारी-प्रश्न को व्याख्यायित-विश्लेषित करती हुई विमर्श को नये-नये आयाम प्रदान करती हैं। इन पुस्तकों के नाम से ही नहीं वरन् इन्हें पढ़ने पर भी यही ध्वनित होता है कि परिधि पर खड़ी स्त्री अपने इतिहास और भूगोल को जाँचती-परखती हुई सवालों का अटूट सिलसिला कायम करते हुए दुर्ग द्वार पर दस्तक दे रही है और इन आहटों को सुनने, समझने और परखने के लिए दोनों को सतर्क रहना होगा-स्त्री को भी पुरुष को भी। क्योंकि सवाल मात्र पितृसत्ता और उसके षडयंत्र का ही नहीं है वरन् वर्ग संघर्ष का भी है।

जाति बहिष्कार

शंकर राव खरात

पाटील की खेती वाली बस्ती से शेवंता को अँधेरा हो जाने पर जब घर ले आये, तब माँ ने उसे अपनी छाती से लगा लिया। अपने पल्लू से उसकी आँखें पोंछी। माँ जब अपना ममता भरा हाथ उसके सिर पर फिरा रही थी, तब वह सिसक-सिसककर रोने लगी। उसकी आँखें पोंछते-पोंछते माँ ने पूछा, “शेवा बेटा। तू क्यों भाग आई ? सासु तोकूँ अच्छी नई लगी ?”

सुनते ही शेवंता कहने लगी, “अरी माँ ! मैं मर-मर के काम करति हूँ, वे सिंगरे घर में बइठे रहें। ऊपर से मेरे कूँई मार पड़े। मैं कितनी मार सहन करूँ ? मैंने का पाप करौ है ऐसौ।”

“तेरी सासू ऐसौ क्यूँ करति ऐ ?”

“अरै वो सासू, जैसी दिखती वैसी नायं। वानें तौ ज्यादाई परेशान कियौ है मोकूँ। एक-दो काम होय तौ बताऊँ। घर द्वार को सगड़ो गोबर-पानी, पीसनी-कूटनी, चौका-चूल्हा, झाड़ा-बुहारी और ऊपर से रोज मंजूरी करने बाहर खेत-हार जानो पड़े। कोई नेंक हाथ नई बटावै। जा दिन नेंक बोल निकार दियौ तौ बस, मार खानी पड़े।”

“पर तेरे घर के आदमी... ?”

“अरी माँ वे आदमी नई; जानवर हैं जानवर !” यह कहते हुए उसने अपने हाथ फैलाते हुए बताया, “देख ! मेरे हाथ ! पीसते-पीसते मेरे हाथ में ठेकें पड़ि गई हैं। पानी ढोते-ढोते चाँद के बाल उड़ि गये हैं।”

उसके हाथ की ठेकें देखकर माँ चिढ़ उठी, “अरै तेरे घर के आदमी का मरि गये हैं का ?”

“अरी माँ, वे तो काम करणारे आदमी कूँ मारि के ई दय लें। वे मोकूँ मारि कें ही छोड़ते तबई तौ मैं भागि आई हूँ।”

वह बड़े समझदार आदमी की तरह बोल रही थी। उसका कारण यही था कि ससुराल के दुर्व्यवहार से उसके दिल पर फफोले पड़ गए थे। रोज-रोज की यातनाओं के अनुभवों के कारण उसका मुँह खुल गया था।

उसकी सारी बातें सुनकर अन्ना ने उसे शान्ति से समझाया, “लेकिन बेटा ! माँ-बाप तोकूँ कब तक सम्भारेंगे ? तोकूँ सासरे जानौ ई चाहिये।”

“मैंने जाने की मनाई कब करी पर सासरे के आदमी आदमियों की तरै व्यौहार तौ करें। उनसे तुम इतनी सी बाई तौ पूछौ। जदि ऐसैई पठय दई तौ मैं काऊ कूँआँ में गिर के प्राण दे दूँगी।”

शेवंता की उम्र अपेक्षाकृत कम थी, किन्तु वह एकदम ठनठनाती आवाज़ में बोल रही थी। वह किसी का कुछ भी सुनना नहीं चाहती थी। शायद वह अपनी ससुराल में भी ऐसे ही बोलती होगी। उसकी जिद्द देखकर माँ ने उसे धीर बँधाया “शेबा ! तू चिन्ता मति कर बेटा ! मैं देख लूँगी कइसे-कौन आवैगौ लिवाइवे कूँ।”

माँ के इन शब्दों ने शेवंता को धीरज बँधाया और मुझे भी संतोष दिया।

महीना-आध महीना यों ही निकल गया। इस बीच में शेवंता का पति, देवर, सास, चचेरे देवर-जेठ आ-आ कर चले गये किन्तु माँ ने किसी के साथ भी शेवंता को नहीं भेजा। उन्हें उल्टे पाँव लौटना पड़ा। हमारी माँ भी खूब जली-भुनी बैठी थी। इस बात को लेकर हमारे बा, अन्ना और माँ के बीच आये दिन कहा-सुनी हो जाती थी। किन्तु माँ ने अन्ना की एक नहीं सुनी और शेवंता को सासरे नहीं भेजा।

अन्त में पिंपरी गाँव के लोग चिढ़ गए। एक दिन शाम को उन्होंने हमारी महारबाड़ी की चौपाल पर महारों की पंचायत बिठा दी। सारी भाई बंधी इकट्ठी हो गयी। तब उन्होंने अन्ना को बुलाया। अन्ना के साथ मैं भी चौपाल पर चला गया। माँ भी पीछे-पीछे चली आयी और एक अँधेरे कोने में पंचों की बातचीत सुनने के लिए बैठ गयी।

भाई-बंधों की तरफ से गेनूबा तराल ने अन्ना से पहला सवाल पूछा, “क्यों रे रामा। पैलें या बता कि छौरी ऐ पिंपरी के महमानों के संग भेजतोय कि नाय ? सिरफ या बता।”

“भेजने की मनाई कौन करतोय ? पर छोरी की जिन्दगानी की बी देखनी चाहिये कि नई ? कि आँख मूँद के छौरी ऐ आग में धकेल दऊँ ?” ‘बा’ ने सवाल का जवाब सवाल में दिया।

“अरै रामा ! घर-घर माँटी केई चूल्हे ऐं, जहाँ सास-बहू होइंगी वहाँ चकचक-कटकट बनाई रऐगी। जाको अरथ या नई कि बहू सासुरे कूँ जानों ई छोड़ दे।”

“अहो, छोरी लरिकिनी समझकें वा सासू ने या कूँ अपनी बेटा सारखी सम्भारनी चाइऐ कि नई ?”

“अरे वैसो बी सम्भारेगी। ऐसो कितने दिन चलै। आगें बहू के दिना बी आवेंगे कि...”

“हाँ SS..., जब तलक बहू के दिना फिरेंगे तब तलक हमारी छौरी के परान निकलि जावेंगे।” इस बात पर गोनुबा बिगड़ गया, “हाँ तौ; सौ बातों की एक बात ऐ कि, तू छौरी ऐं पठायवे कूँ राजी नई ऐ। सीधे-सीधे बोल।”

“पठाय वे कूँ बिल्कुल तइयार ऊँ, पर नेंक समझदार हयी जायगी तब।”

“इस्की माँ कूँ..साला; तेरी तौ रामा ! कछू दूसरी ई बात दिखतै।”

“दूसरी-तीसरी कछू नांय छौरी ऐ बड़ी हइ जाने पै भेज दूँगे।”

हमारे बा का दुख पहचानकर गेनूबा, गाँव के भाई-बंधों की तरफ मुँह करके कहने लगा, “बताओ पंचौ ! अब बिरादरी कौ विचार काय ?”

सुनते ही ऊपरी गली का शिवा खड़ा हो गया और कहने

लगा, "रामा के शरीर में गरमी बढ़ गई ऐं, या की गरमी उतरनी चाहिये।"

"तौ कइसें उतरनी चाहिये ? उपाव काय ?" गेनुबा ने पूछा। तुरन्त 'दूसरा' उठ खड़ा हुआ और निर्णय की भाषा में कहने लगा, "बेटा कूँ जब बिरादरी की - भाई-बंधी की कछू कदर नाय-कीमत नाय तब, एकई उपाव ऐ कि बिरादरी साँ चाकौ हुक्का-पानी अलग करी देव। अपने आप गरमी निकर जाइगी - हय जाइगौ ठंडौ, चारि दिना में।"

पंचायत में जाति से बहिष्कार की भाषा। अन्ना, चौपाल के चबूतरा के किनारे से खिसककर सीधा घर आ गया। मैं वहीं चबूतरा के किनारे पर बैठा रह गया। पंचायत की बातें सुनता रहा। कुछ आदमियों ने हमारे माँ-बाप पर घमंडी होने का दोष लगाया। और अन्त में बिरादरी से हुक्का-पानी अलग कर देने का ही निर्णय ले लिया गया। इस निर्णय से मुझे भी धक्का लगा ! बिरादरी से अलग कर देने का अर्थ था कि भाई-बंधी के विवाह-शादियों में हमारे घर को नहीं बुलाया जायेगा। न्यौता-पांती, दावत खाने-पीने से हमारे घर को अलग छेक दिया जायेगा। भाई-बंधी के ब्याह-सगाइयों में मान-सम्मान की पान-सुपारी बन्द हो जायेगी। जाति-बिरादरी से आग-पानी बन्द कर दिया जायेगा। वास्तव में बिरादरी से बहिष्कार हो जाने पर हम अपने घर में ही कैदियों की तरह बन जायेंगे।

पर मेरी दृष्टि में पंचायत का यह निर्णय उचित नहीं था। पंचों को पहले यह पूछना चाहिए था कि हमारी बहिन को उसकी ससुराल में क्या कष्ट है ? उसके साथ किस प्रकार का दुर्व्यवहार होता है ? इन सारी बातों का खुलासा उन्हें शेवंता की ससुराल वालों से पूछना था। बिना दोनों तरफ की बातें सुने, बिरादरी से बहिष्कार कर देने का यह इकतरफा निर्णय अनुचित था। एक प्रकार से अन्याय था। मेरे पिता तो सीधे-सरल स्वभाव के व्यक्ति थे, किन्तु माँ को अन्याय से बड़ी चिड़ थी। वह अन्याय के सामने झुकना तो जानती ही नहीं थी। बिरादरी से हुक्का पानी अलग हो जाने का अन्दाज उन्हें रहा होगा। इस बहिष्कार का सामना करने के लिए वे तैयार रहे होंगे। किन्तु मेरे बात मन के लिए यह बात असाध्य लग रही थी। इसके ऊपर पंचायत के लोग हमारे 'बा' के प्रति अनेक उलटी-पुलटी बातें बोल रहे थे-

"अब देखतें कि रामा कइसें नई आइगौ ठिकाने पै ?"

"अरै वो का भाई-बंधों सँ बी बड़ौ हई गयौ ?"

"रामा कूँ पाँच-पंचों का मान रखनौ चाहिये।"

"अरै उसकूँ उसकी छौरी अपनी बिरादरी सँ ज़्यादा बड़ी लगै।"

इस तरह अनेक मुँह-अनेक बातें पंचायत में चल रही थीं। रात बढ़ रही थी। बिरादरी से हमारे घर को अलग कर देने का निर्णय तो पक्का हो गया था। इस निर्णय पर फिर से विचार करने की बात किसी ने नहीं उठायी। मैं भी पंचायत के चबूतरे से उठकर घर चला आया। माँ और 'बा' दोनों ही जगे हुए थे।

मैं चिन्तित था-चुपचाप बैठ गया। मुझे गुम-सुम बैठा देखकर माँ ने पूछा, "कायरे शंकरा ! तू अइसें क्यूँ बइठौ ऐ चुपचाप ?"

'तुम शेवंता कूँ ससुराल पठयवत नाई, जातें पंचायत में हमकूँ बिरादरी सँ अलग करने कौ फैसला हइ गयौ ऐ।"

यह सुनते ही माँ उबल पड़ी, "मैं बी नाम की सावित्री हूँ ! मैं बी देखती कि बिरादरी सँ अलग करने बारे की बेटा हयें कि नई ? उनकी सासु कइसें व्यौहार करयेंगी वा बी देखूँ। माँ बोल तो ठीक रही थी। किन्तु ये बातें आगे की थीं। कल से हमारे साथ सारी बिरादरी का बोलना-चालना; उठना-बैठना बन्द हो जायगा; तब कैसा लगेगा ? मेरे सामने यही प्रश्न था। इसलिए मैंने माँ से पूछा, "माँ जदि महारबाड़ी के किसी ब्याह सगाई में हमकूँ नई बुलायी पाँत-पंगत में जीमने नई दियौ, तो हम का करिगे ?"

मेरे प्रश्न सुनकर माँ थोड़ी देर चुप हो गई। उसके चुप हो जाने का कारण सीधा था। महारबाड़ी में किसी के भी यहाँ विवाह हो तो महारों के सारे परिवार उसके यहाँ दावत खाते। कल यदि किसी के यहाँ ऐसा हुआ तो मेरे सभी संगी साथी पंगत-खाने जायेंगे। पाठशाला में पढ़ने वाले महारों के सभी लड़के-दगडू, पंडा, रामू, दतू, विट्टल आदि ब्याह में जाने के लिए पाठशाला से छुट्टी माँगेंगे। मैं यदि नहीं जाऊँगा तो मास्टर पूछ लेंगे, "अरे शंकर तू दावत खाने क्यों नहीं गया रे।" मास्टर के इस प्रश्न का मैं क्या उत्तर दूँगा ? मैं कैसे बताऊँगा कि भाई-बंधी ने हमारे घर का हुक्का-पानी अलग कर दिया है। मैं इसी चिन्ता में था। बिरादरी से बहिष्कृत रहने की बात मुझे अन्दर ही अन्दर जला रही थी। मेरे मन की बेचैनी को शायद माँ ने भाँप लिया था, इसलिए वह क्षण भर चुप रह गई। लेकिन दूसरे क्षण ही वह स्वाभिमान मिश्रित ममता भरे स्वर में बोली, "जाने दे। जा दिना महारबाड़ी में पंगत बयटेगी वा दिना मैं घर में ई पुरण बनाऊँगी। तू क्यूँ चिन्ता करतोय ! जा दिन सिगरे महार दावत खांयगें ता दिना मैं का अपने बालकों कूँ भिकारी की तरै डोलनं दिऊँगी ? मस्त पुरन-पूरी बनाऊँगी वा दिना।"

माँ की ये बातें सुनकर मुझे बड़ा अच्छा लगा। लेकिन मैंने माँ से एक और बात पूछी, "माँ ! महार-चौपाल पै काऊ के ब्याह-सगाई की पान-सुपारी के लें अन्ना कूँ बुलावौ नई आवैगौ का ?"

यह सुनते ही अन्ना बोल उठा, "नई बुलावेंगे तौ मेरौ का बिगड़तोय ! ऐसे पान-सुपारी खायवे की मोकूँ फुरसत बी कहाँ ?"

हमारे 'बा' की यह बात ठीक ही थी, अन्ना सुबह-शाम हर समय ही तो 'गाँवकी' के काम में जुता रहता था। इसमें से जब फुरसत मिल जाती तो गाँव के बनियाँ-ब्राह्मणों के यहाँ ईधन के लिए लकड़ी फाड़ने चला जाता था। यदि लकड़ी फाड़ने नहीं जाता तो हार-खेतों पर मेहनत-मजूरी के लिए जाता। पेट के धंधे से अन्ना को फुरसत ही कहाँ थी, जो भाई-बंधी की चौपाल पर बैठने जाता। यह बात 'बा' के सम्बन्ध में भले

ठीक थी, किन्तु मैं तो पाठशाला से छुट्टी मिलते ही चौपाल पर बैठने के लिए नियमित रूप से जाया करता था। और उसी समय यदि भाई-बंधी के मान की पान-सुपारी का कार्यक्रम हुआ तो ? यह प्रश्न मेरे सामने था। यद्यपि यह प्रश्न मेरी दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता था। भाई-बंधों में मैं तो अज्ञान-अबोध बच्चा ही तो था। लेकिन मेरे मन में एक दूसरी शंका उत्पन्न हुई। वह मैंने तुरन्त ही माँ से कह डाली, “माँ ! या सब तौ ठीक है पर, आग के लें का करेगी। जब-तब घर में आग नई रहती, तब तू पड़ौसिन के हयौं आग लइकेँ आवतै कि नई ?”

माँ ने सुनते ही इस शंका का समाधान कर दिया, “अरे बाबा। गाँव में बनियाँ की दुकान थोड़ई बन्द हय गई ऐं ? माचिस मिलती है कि ढेर सारी, एक पइसा की एक ! और मैं कब रोज़-रोज़ पड़ौसिन के हयौं चीज लइवे जातिऊँ ?”

माँ का यह उत्तर एकदम ठीक था। दुकान से एक माचिस लाकर रख ली कि बस। उसमें भी मार ‘बा’ चिलिम पीता था। उसके पास चिलिम में आग जलाने के लिए चकमक थी। यदि घर में माचिस नहीं भी रहे तो चकमक (लायटर) से आग जलाई जा सकती थी। हुक्का-पानी बन्द कर देने का यह फैसला अन्ना के ऊपर लागू नहीं होता था क्योंकि चिलिम पीने के लिए अन्ना किसी के पास नहीं जाता-उलटे उसी के पास लोग रोज़-रोज़ सुबह-शाम चिलिम पीने आया करते थे। इसलिए यह कोई अड़चन नहीं थी। परन्तु एक और प्रश्न मेरे मन में उठ खड़ा हुआ। पाठशाला की छुट्टी के दिनों में मैं कभी-कभी अपनी बकरियाँ चराने के लिए महारबाड़ी के अन्य लड़कों के साथ चला जाता था। अब वे मुझे अपने साथ बकरियाँ चराने देंगे कि नहीं ? यह शंका मेरे मन में उठी। किन्तु यह कोई कठिन समस्या नहीं थी। मैं अकेला भी चाहे जहाँ अपनी बकरियाँ चरा सकता था। इसलिए यह शंका उठते ही निर्मूल हो गयी। अब एक और शंकापूर्ण विचार निर्माण हुआ। वह एक बड़ी समस्या थी। मैंने अन्ना से पूछा, “कल यदि बिरादरी ने झरने कौ पानी बन्द कर दियौ तब... ?”

“अरे झरना का बिरादरी के बाप की ऐ ? और फिर मैं का कोऊ लँगडौ-लूलौऊँ ? कर दें बन्द वे। मैं दूसरी झरना फोड़ निकार लूँगो।”

बिरादरी ने भले ही हमारा हुक्का-पानी अलग कर देने का फैसला कर लिया था। किन्तु, हमारे माँ-बाप भी उसका सामना करने के लिए किस तरह तैयार थे इसका पता मुझे उनकी बातचीतों से चल गया। भाई-बंधों के अन्यायपूर्ण निर्णय के विरुद्ध वे भी ताल ठोंककर खड़े थे। उन्होंने अपने मन में पक्का इरादा कर लिया था कि बिरादरी चाहे जितनी यातना दे, किन्तु उसके सामने झुकेंगे नहीं। भाई-बंधों ने इकतरफा फैसला किया था, जो गलत था। यह एक प्रकार से हमारे माँ-बाप के प्रति अन्याय था इसलिए हमारे माँ-बाप ने भी इस अन्याय का सामना करने की कमर कस ली थी। लेकिन मेरे मन में यह सब खटक रहा था क्योंकि मैं तो उन भाई-बंधों के लड़कों के साथ ही उठता-बैठता और खेलता था।

दूसरे दिन से ही जाति-बहिष्कार शुरू हो गया। मैं अपने ‘बा’ के साथ ही पौ फटने से पहले ही बैठा होता। उसके साथ नाले के झरने पर जाता। मुँह-अँधेरे ही अन्ना के साथ झरने के गुनगुने पानी में नहाता-कपड़े धोता। अन्ना और मैं दोनों ही जल्दी-जल्दी गागर भरकर घर का पानी भर देते। चौपाल पर आदमी सोकर उठते भी नहीं थे कि उसके पहले ही हम सारा काम निपटा लेते। अब मैं पाठशाला की पहली घंटी बजने से पहले ही पहुँच जाता। यह ठीक है कि हमारा घर बड़ी दृढ़ता से इस बहिष्कार का सामना कर रहा था; किन्तु मेरे बाल-मन में यह बात चुभती रहती-कसकती रहती। पाठशाला के मेरे सहपाठियों को इस बात का पता नहीं था कि हमारे घर का बिरादरी ने हुक्का-पानी अलग कर दिया है। लेकिन मेरा ही मन मुझे खाता रहता था। मन ही मन मैं बहुत दुखी और खिन्न था किन्तु ऊपर से यह दिखाने की कोशिश करता मानों कुछ हुआ ही नहीं है-सब ठीक-ठाक है। दिन इसी तरह कट रहे थे। हमारी माँ पहले ही किसी के घर यों ही फालतू बातें करने नहीं जाती थीं-पास-पड़ौस की औरतें ही हमारे घर आया करतीं। जिस दिन से हमें बिरादरी से अलग कर दिया, उस दिन से तो माँ बिल्कुल किसी के घर नहीं गईं। चूल्हा सुलगाने के लिए आग माँगने भी नहीं। बनिये के यहाँ लकड़ियाँ फाड़ने के बाद अन्ना एक माचिस की डिब्बी माँग लाता। माटी के भाँड़े-कूँडों की जेट में एक माचिस कायम के लिए रखी रहती। उसी माचिस से माँ दिया भी जलाती और चूल्हा भी सुलगाती। उसके उल्टे, पास पड़ौस की औरतें-जुगाई, बिठावाई, गंगूबाई, पवाबाई आदि हमारे ही घर से चूल्हा सुलगाने-दीपक जलाने आग माँगकर ले जाती।

विवाह-शादियों के दिन आ गये थे। हमारी महारबाड़ी के लड़के-लड़कियों के ब्याह-सगाइयाँ तय की जा रही थी। महारबाड़ी की चौपाल पर आये-गये मेहमानों की चहल-पहल हो रही थी। सगाई-सम्बन्धों के समारोहों में मान-सम्मान के पान-सुपारी बाँटे जा रहे थे।

इन्हीं दिनों ऊपरी गली के ‘शिबू’ की लड़की की सगाई थी। आन गाँव के मेहमान-सौन चौपाल पर जमा हो गये थे। भाई-बंधों में मान-सम्मान की पान-सुपारी बाँटने वाली थी। उस समय मैं भी चौपाल पर बैठा हुआ था। मेहमानों के लिए छोंगड़ (ऊनी गूदड़े) बिछा दिये गये। बाकी के लोग ज़मीन पर बैठ गये। आपस में बात-चीत चल रही थी। इतने में घिस-घिस कर माँजी गई चमचमाती काँसे की थाली में पान लाये गये। दूसरी थाली में सुपारी, चूना, कत्था आदि चीजें रख दी गयी। उन्हें देखकर मैं एकदम दचक गया। मुझे लगा कि यह तो सगाई की पान सुपारी हैं और हमारा घर तो बहिष्कृत है। पान-सुपारी बाँटते हुए किसी के ध्यान में यह बात आ गयी तो बिना बात के अपना अपमान हो जाएगा। यह जानते ही मेरा मन एकदम अकुलाने लगा। मन में आया कि यहाँ अब एक क्षण भी नहीं बैठना चाहिए। यह विचार आते ही मैं वहाँ से खिसकने लगा। मुझे जाता हुआ देखकर ‘दगडू’ कहने लगा,

“अरे का जातोय ? अबई तो पान-सुपारी बटैंगी।”

उसे नहीं मालूम था कि भाई-बंधों ने हमारा हुक्का-पानी छेक रखा है। मैंने भी उसे यों ही टाल दिया, “अरे मोकूँ माँ ने बुलायो है तुरन्त। जरा पूछ के आताऊँ।” यह कहते ही मैं तुरन्त चौपाल से खिसक आया।

ब्याह-शादियों के ही दिन थे। महारबाड़ी में दो-तीन विवाह होने वाले थे। इन शादियों में सारी महारबाड़ी को पुरण-पूरी की दावत मिलने वाली थी। इसके अलावा इन विवाहों में मनौती के बकरे भी चढ़ाये जाने वाले थे। प्रसाद के रूप में उनके माँस का भोजन भी सारी बस्ती को मिलने वाला था। सिर्फ हमारा घर ही बहिष्कृत था। हमारे घर में इस दावत की किसी को आशा नहीं थी।

मेरा मन मुझे टोंच-टोंच कर खाने लगा। मैं सोचता-क्यों आ गई विवाह की ये तिथियाँ ? ये विवाह टल क्यों नहीं जाते ? लेकिन कौओं के कोसने से जानवर थोड़े ही मरते हैं। मेरे चाहने से होता भी क्या ? दावत के दिन नज़दीक आते जा रहे थे। मुझे लगता कि मैं स्वयं ही क्यों न विवाह के इन दिनों का बहिष्कार कर दूँ और दादा-दादी के पास डिगी गाँव भाग जाऊँ। एक अठवाड़ा उधर ही बिता दूँ आराम से। नहीं तो बीच की बहिन के गाँव ‘चोपड़ी’ में चला जाऊँ। आराम से एक अठवाड़ा वहाँ भी गुजारा जा सकता है। लेकिन ये सारे मनसूबे व्यर्थ थे। क्योंकि पाठशाला से छुट्टी का सवाल था और फिर परीक्षा भी सिर पर आ रही थी। इसलिए मैं कहीं भी नहीं जा सकता था।

संध्या काल-दीया-बाती का समय हो गया था। मैं चौपाल के चबूतरे के किनारे खम्बे से पीठ टेककर बैठा था। उसी समय वहाँ बैठे हुए पंच लोग दूसरे दिन होने वाली दावत का मनसूबा कर रहे थे। सबेरे की पंगत के लिए किस-किस के घर गेहूँ भेजने चाहिये ? इसी का विचार चल रहा था। किसी ने बताया कि ऊपरी गली के महादा के यहाँ और निचली गली के एक ओर के घर में गेहूँ नहीं भेजने हैं। इसी बीच किसी ने यह भी कहा कि रामा के घर का भी हुक्का पानी बन्द है, उसके यहाँ भी गेहूँ नहीं भेजने हैं।

अपने ‘बा’ का नाम सुनते ही मैं एक दम सहम गया। दीपक के उजाले से अपना मुँह छिपाने के लिए पीछे की ओर सरक गया। पूरी महार बस्ती में हम तीन घर कल की दावत से छेक दिये गये-अलग कर दिये गये। हमारे घर में ही गेहूँ नहीं भेजे जायेंगे। ये गेहूँ विवाह वाले के घर से लेकर दावत के एक दिन पहले भाई-बंधों के सारे घरों में बाँट दिये जाते हैं। यह बँटवारा घर के आदमियों की संख्या के अनुसार होता है, किसी के यहाँ ढाई सेर तो किसी के यहाँ पाँच सेर आदि के हिसाब से। इन गेहूँओं को अपने-अपने घरों में पीसकर आटे को मंडप वाले के द्वार पर ले आते हैं। वहाँ पर उसकी पुरण-पूरी बनाई जाती है। सारे दिन भोजन बनाने का कार्यक्रम चलता रहता है। फिर शाम के वक्त सारी बस्ती की पंगत बैठती है। उसी समय सारी परोसना हो जाने के बाद, “पुंडलीक

वर दे SS विढदल हरी SSSS” के सामूहिक उच्चारण के साथ भगवान का नाम लेकर भोजन करने की शुरुआत की जाती है। परोसने वाले प्रत्येक पंगत में, ‘पूण पूरी’, ‘अमरीड’ (मीठी दाल) ‘माडल’ की आवाज़ देते हुए परोसते फिरते। गाँव में पंगत के भोजन का ऐसा ही ठाठ होता है।

हमारे घर विवाह-भोज के गेहूँ नहीं पहुँचाये जायेंगे। यह बात मालूम होते ही मैं चौपाल से एकदम खिसक लिया-सीधा घर पहुँचा। माँ और ‘बा’ घर में ही थे। भोजन का समय था। घर पहुँचते ही मैंने माँ को बताया, “माँ गेना महार के छौरा को ब्याह है। कल की पंगत के लें हमारे घर में गेहूँ नई पहुँचाये हैं।”

“नई पहुँचाये हैं तौ जाने दे भाड़ में। मैं बी सबेरे पुरण-पूरी करूँगी। तेल में। करूँगी, तेल में और भर पेट खवाऊँगी तुम्हें।”

माँ के इस कथन से मुझे बहुत अच्छा लगा। मन फूल उठा। माँ तुरन्त ही उठ खड़ी हुई और उसने जेट के मटके-मटकियाँ उतारना शुरू कर दिये। एकदम नीचे के मटका में से उसने एक सेर भर के अंदाज से गेहूँ निकाल लिये। उन्हें देखकर मुझे पक्का विश्वास हो गया कि कल निश्चय ही पुरणपूरी मिलेगी। मन में बड़ा सुख हुआ।

दूसरा दिन निकल आया। दोपहर भी हो गयी।

हमारी पाठशाला दोपहर को ही लगती थी। विवाह के मंडप वाले दरवाजे के सामने पंगत बैठने का समय हो गया। तभी हमारी कक्षा में दगडू, रामू, दत्तू, पंडया आदि महार लड़कों ने मास्टर से पूछा, “गुरुजी ! महारबाड़ी में ब्याह की पंगत है, हमें छुट्टी दे देवो !”

जब ये लड़के छुट्टी माँग रहे थे, तब मैं नीचे गर्दन किए पुस्तक से मुँह छिपाकर उन्हें कनखियों से देख रहा था। उनकी माँग सुनते ही पतकी मास्टर ने फटकारा, “हट्ट रे भड़वे ! मौखिक गणित के घंटे से पीछा छुड़ाने के लिए उपाय सोच लिया है ? चलो बैठो। अपनी जगह पर।”

लेकिन पंडया ने फिर से कहने की हिम्मत की, “विद्या रानी की सौगंध ऐ गुरुजी ! महारबाड़ी में आज पंगत ऐ।” परन्तु मास्टर को विश्वास नहीं हुआ। वह मेरे सामने आकर पूछने लगे, “क्यों रे शंकर ! आज तुम्हारी बस्ती में दावत-बावत है ?”

मास्टर ने तो यह बात सहज ही पूछी थी। किन्तु मुझे लगा कि मेरी दुखती आँख में नमक के छींटे डाल दिये हैं। इसमें मास्टर की कोई गलती नहीं थी। मैं अपनी कक्षा में पढ़ने में तो हुशियार था ही परन्तु कभी गैर हाज़िर होने की या बताये हुए काम को न करने की भी गलती नहीं करता था। मास्टर को विश्वास था कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा। इसलिए उसने तो सहज ही पूछा था। किन्तु मेरे मन की पीड़ा में ज्वार-भाटा आ गया। मैं चुप हो गया। नीची नज़र किये ही, मैंने गर्दन ऊपर-नीचे की और बड़ी कठिनता से ‘होय’ कहा। मास्टर ने तुरन्त ही हमें छुट्टी दे दी। मुझे छोड़कर महारबाड़ी के सभी लड़के एकदम उठ खड़े हुए। मैंने नीचे सिर किये ही आँखों के आँसू पाँच

डाले। फिर आगे-पीछे का विचार न करते हुए मैंने भी अपनी पाटी-पुस्तकें उठायी और पाठशाला के बाहर निकल आया।

घर आने पर मैंने पाटी-पुस्तकें टोकरा में डाल दीं और भीत से पीठ टिकाकर ऐसे बैठ गया मानो हाथ-पैरों में जीव ही नहीं रहा हो। मेरे मुरझाये हुए चेहरे की ओर देखते हुए माँ ने कहा, “क्यों रे ! तूने पाठशाला से आने में देर करि लई। मैंने कब की पुरण-पूरी बनाय लई ऐं-तेरी बाट जोह रई ऊँ ?”

माँ को मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। मैं चुपचाप ही बैठा रहा। इसी बीच माँ एक थाली में तेल में सेंकी गई ‘पुरण-पूरी’ रख लायी। एक कटोरी में अमटी भी थी। मेरे सामने रखते हुए माँ ने कहा, “ले खा ! पेटभर खा-खूब !”

मैंने सचमुच ही खूब मूककर पुरण पूरियाँ खायीं। अमटी की कटोरी पर कटोरियाँ पी डालीं।

लेकिन भाई-बंधों के द्वारा किये गए बहिष्कार की चुभन-पीड़ा, घर की पुरण-पूरी खाकर भी नहीं हटी। बचपन में ही मैंने, ‘सबते बड़ों जाति अपमान’ के दुख का एक अच्छा खासा अनुभव प्राप्त किया।

इस बात से मुझे एक और बीते हुए अनुभव की याद आ रही है। मुझे एक बार, हमारी महार बस्ती के बकरियाँ चराने वाले लड़कों ने भी ‘जाति से छेक’ देने का दंड दिया था। इसका कारण यह था कि एक बार मैंने बकरियाँ चराने वाले बड़े लड़कों के लिए गाँव के पान वाले की दुकान के पास से बीड़ियों के टुकड़े बीन लाने से मना कर दिया था। इसी दोष के लिए उन्होंने मुझे अपने साथ से अलग कर दिया था-मेरा और मेरी बकरियों का बहिष्कार कर दिया था। लेकिन मैंने भी

उनके बहिष्कार के सामने गर्दन नहीं झुकायी। बीड़ियों के टुकड़े न बीनने के लिए मैंने पक्का इरादा कर लिया था। इस इरादे के पीछे भी एक घटना है।

एक बार मैं इन बड़े लड़कों के लिए तम्बोली की दुकान के पास बीड़ियों के जले हुए पीकर फेंके हुए टुकड़े बीन रहा था। यह काम करते हुए मुझे कत्रि मास्टर ने देख लिया। उन्होंने यह बात पाठशाला में अन्य लड़कों को भी बतायी और मुझसे पूछा, “क्यों रे शंकर ! तू बीड़ियों के टुकड़े बीनकर पीता है ?”

“नहीं तो।” मैंने कहा।

“फिर उस दिन तुझे बीड़ियों के टुकड़े बीनते हुए मैंने देखा था-वहाँ तंबोली की दुकान के पास।”

“मैं क्षण भर चुप रह गया। चोर को उन्होंने ठीक सेंध पर देख लिया था। किन्तु फिर भी मैंने अस्वीकृति में ही उत्तर दिया, “नहीं गुरुजी, नहीं, मैं बीड़ी नहीं पीता।” ‘नहीं’ के अलावा मैं कुछ और उत्तर दे भी नहीं सकता था।

“अरे ! मैंने तुझे उस दिन, अपनी आँखों से देखा और तू नहीं-नहीं कहता है ? झूठ बोलता है ?”

फिर तो मास्टर गुस्से से आग बबूला हो उठा। वह अपनी छड़ी लेकर आगे बढ़ आया और “तू बीड़ी पीता है और झूठ भी बोलता है।” कहते हुए अपनी छड़ी से अच्छी तरह ठोक डाला। उस समय मैं पाठशाला में खूब रोया मुझे अच्छी तरह मार पड़ी थी। सभी लड़कों के सामने कक्षा में मेरी बुरी तरह बे-इज़्जती हुई थी। पाठशाला का वह दिन मैं कभी भी नहीं भूल सकूँगा।

‘कथादेश’ से साभार

पृष्ठ 2 का शेष.....

पोटा जैसे सख्त कानूनों को वापस लाने और नागरिक स्वतंत्रता को दबाने में सुविधा रहती है। तीसरा, अलकायदा का हौवा, स्थानीय शिकायतों से प्रेरित समूहों (जैसे हिजबुल मुजाहिदीन) के बीच तमाम किस्म के काल्पनिक संबंधों, यहां तक कि समीकरणों को भी बढ़ावा देता है और ऐसे समूहों को भी जो रूढ़िवादी और इलहामी विचारधाराओं से प्रेरित हैं। एक बार जब बुनियादी फर्क धुंधला जाते हैं तो सबको एक ही लाठी से हांका जा सकता है। एक नए अनर्गल शब्द ‘इस्लामी फासीवाद’ को गढ़कर और फिलिस्तीनी राष्ट्रवादियों, इराकी विरोध, हिजबुल्लाह और अलकायदा को एक ही श्रेणी में रख कर अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने यही किया है। बुश की गलती को भारत में दोहराना साम्प्रदायिक परिणामों से भरपूर होगा। इसमें ‘हिंदुत्व’ के आतंकवादी विरोधी वैधता मिल जाएगी और अनगिनत धार्मिक समूहों बल्कि समुदायों को शैतानी करार देने की इजाज़त मिल जाएगी। सिमी से लेकर, मदरसों और मुस्लिम पर्सनल बोर्ड जैसे विभिन्न संगठनों के खिलाफ सबूत हो या न हों, उन्हें अलकायदा से जुड़ा हुआ

बताया जा सकता है, जिसके भयानक परिणाम हमारे सामने आ सकते हैं।

ऐसे में राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार श्री नारायणन आग से खेल रहे हैं। उनके पिछले रिकॉर्ड से भी भरोसा पैदा नहीं होता। सबसे चिंताजनक बात यह है कि उनमें आतंकवाद को धर्म के चश्मे से अर्थात ऐसे तत्वों से देखने की प्रवृत्ति है, जिनमें साम्प्रदायिक अर्थ छिपे हो सकते हैं। इस संदर्भ में सितम्बर 11 की आतंकवादी घटनाओं के बाद टोरंटो (कनाडा) में अंतर्राष्ट्रीय पुलिस प्रमुख संगठन के सम्मेलन में उनके द्वारा दिए गए भाषण को देखा जा सकता है। उन्होंने अपने भाषण को ‘धार्मिक आतंकवादियों खासतौर पर उग्र इस्लामी किस्म के आतंकवादियों’ पर केंद्रित किया, जिन्होंने ‘बहुत वर्षों तक’ भारत को अपना निशाना बनाया। नारायणन ने अपने भाषण का समापन गायत्री मंत्र से किया। ज़ाहिर है ‘आतंकवाद विरोध’ बहुत से रंगों में प्रकट होता है। हमें खबरदार कर दिया गया है।

इरोम शर्मिला : मणिपुर की 'लौह महिला' काले कानून के खिलाफ प्रतिरोध की अनोखी दास्तां

सुभाष गाताड़े

इरोम शर्मिला, उम्र 34 वर्ष, क्या यह नाम कुछ जाना-पहचाना लगता है?

दरअसल इरोम नन्दा और इरोम सखी की नौ सन्तानों में सबसे छोटी शर्मिला थानु की हममें से तमाम लोगों की तरह बहुविध पहचानें हैं। बहन विजयन्ती के लिए या भाई सिंहजीत के लिए वह उनकी लाइली बहन है जिसके अन्दर बचपन से ही वह 'कभी न झुकने का माददा' है। अपने चन्द करीबी दोस्तों के मुताबिक वह योग के प्रति बेहद उत्साही रही है और वह कभी प्राकृतिक उपचार की भी शौकीन रही है। मणिपुर के रचनाकारों के लिये, वह एक ऐसी कवयित्री है जिसने सैकड़ों कवितार्यें लिखी हैं, लेकिन आज की तारीख तक महज उसका एक ही संग्रह 'इमादी खोनगदाई सेतलारोई' नाम से प्रकाशित हुआ है। और जहां तक मणिपुर की व्यापक आबादी का सवाल है, वह इरोम शर्मिला थानु नहीं है बल्कि 'मणिपुर की लौह महिला' है जिसने अपने अनोखे संघर्ष के जरिये एक असंवेदनशील हुकूमत को और काले कानून पर टिके उसके निजाम को चुनौती दी है।

गौरतलब है कि टीवी चैनलों की भरमार और प्रिन्ट मीडिया के विस्तार में लगातार होती बढ़ोत्तरी के बावजूद, हिन्दी पट्टी के अधिकतर जागरूक लोग भी यह नहीं बता सकेंगे कि निम्न मध्यम वर्गीय परिवार में जनमी शर्मिला जो 12 वीं कक्षा के बाद अपनी पढ़ाई भी जारी नहीं रख सकीं वह अपने जीवन में ही किंवदंती/दंतकथा कैसे बन सकी।

इरोम शर्मिला थानु के संघर्ष की गाथा अब इतिहास में उन महान संघर्षों की गाथा में जुड़ गयी है, जब किन्हीं व्यक्तिविशेष ने समूची सल्तनत को चुनौती दी।

दरअसल आने वाले 2 नवम्बर को इरोम शर्मिला की भूख हड़ताल छह साल पूरे कर सातवें साल में प्रवेश करेगी। विगत छह साल से शर्मिला ने अपने मुंह से पानी का एक घूंट भी नहीं लिया है। उसकी बस एक ही मांग है उसके राज्य में लम्बे समय से लागू आर्म्ड फोर्स स्पेशल पावर्स एक्ट (सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम) को हटा दिया जाये।

फिलवक्त वह अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स), नई दिल्ली के प्रायवेट वार्ड में भर्ती हैं जहां उन्हें नाक में लगायी नली के जरिये जबरन द्रव्य पदार्थ खिलाये जा रहे हैं। मणिपुर स्थित जवाहरलाल नेहरू अस्पताल के वार्ड से जहां उन्हें न्यायिक हिरासत में रखा गया था, वहां से दिल्ली पहुंचने की उनकी दास्तां कम लोमहर्शक नहीं है। हिरासत में एक साल की अवधि बिताने के बाद जो 'आत्महत्या' के प्रयास के लिए अधिक से अधिक सजा है, जब शर्मिला को इस बार रिहा गया तो उसके समर्थक उसको बाकायदा नई दिल्ली जाने वाली अगली उड़ान पर बिठा कर यहां ले आये ताकि 'क्षेत्रीय' सी दिखने वाली उसकी मुहिम को 'राष्ट्रीय' शकल प्रदान की जा सके। दिल्ली में शर्मिला ने सबसे पहले राजघाट पहुंच कर महात्मा गांधी की समाधि पर फूल चढ़ाये। बाद में एक पत्रकार

से बात करते हुए शर्मिला ने बताया, "मैं हिन्दोस्तां की जनता को बताना चाहती हूं कि अगर आज महात्मा गांधी ज़िन्दा होते तो उन्होंने भी सशस्त्र बल अधिनियम के खिलाफ आन्दोलन छेड़ा होता। इस मुल्क के नागरिकों से मेरी अपील है कि वह इस सैनिक अधिनियम के खिलाफ मुहिम में साथ जुड़े।" (द टेलीग्राफ, 5 अक्टूबर 2006)

००

यहां इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि इरोम शर्मिला ने इम्फाल से 15-16 किलोमीटर दूर मालोम नामक स्थान पर जब अपनी भूख हड़ताल शुरू की तब किसी सोची-समझी योजना के तहत उसका आयोजन नहीं हुआ था। दरअसल 2 नवम्बर 2000 को सुरक्षा बलों ने वहां बस स्टैण्ड पर अंधाधुंध गोलियां चला कर दस मासूमों को मार डाला था। जाहिर सी बात है यह कोई पहला मौका नहीं था कि मणिपुर की सड़कों पर मासूम नागरिकों का खून बहा था। ऐसे कई मौके पहले ही आये थे।

इरोम सखी को इस बात का अन्दाज़ा ही नहीं था कि उनकी बेटी के मन में क्या उमड़-धुमड़ रहा है जब वह उस दिन उनका आशीर्वाद लेने पहुंची। शर्मिला ने उनसे यह कहते हुए आशीर्वाद मांगा कि वह इन्सानियत की सेवा के लिए कुछ काम करने जा रही है। अपने घर से सीधे इरोम शर्मिला मालोम बस स्टैण्ड पहुंची, जहां के रक्त के दाग अभी ठीक से सूखे भी नहीं थे। और वहीं पास बैठ कर उसने अपनी भूख हड़ताल की शुरुआत की। उसकी मांग कहने के लिए बहुत आसान थी, मगर अमल करने के मामले में सत्ताधारियों के लिए बहुत मुश्किल। उसने उस खतरनाक कानून की वापसी की मांग की, जिसके तहत सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार मिले हुए थे। शुरुआत में मालोम या आसपास के निवासियों के लिए इस युवती द्वारा शुरू किये गये शांतिपूर्ण प्रतिरोध की बात हजम करना मुश्किल साबित हो रहा था। कुछ मुट्ठीभर लोगों की निगाह में इरोम शर्मिला उपहास का पात्र थी। लेकिन किसी को भी यह गुमान नहीं था कि शर्मिला अपने संकल्प पर अडिग रहेगी। मालोम बस स्टैण्ड पर शुरू हुए इस अनोखे भूख हड़ताल की खबर धीरे-धीरे सूबे के अन्य हिस्सों में भी पहुंची, और उसके प्राणों की रक्षा करने के लिए सरकार पर दबाव बढ़ा। इस दबाव से बचने का एक ही रास्ता था कि सरकार ने इरोम शर्मिला को 'आत्महत्या करने के आरोप में' न्यायिक हिरासत में लिया। 21 नवम्बर को प्रशासन ने उसे अस्पताल में भर्ती कर वहीं नाक से जबरन द्रव्यपदार्थ देने का सिलसिला शुरू किया।

'आत्महत्या की कोशिश के लिये अदालत अधिक से अधिक एक साल की सजा दे सकती है और इतने सालों के दौरान शर्मिला कई बार उसे काट चुकी है। उसे एक साल की सजा पूरी करने के बाद न्यायिक हिरासत से रिहा किया जाता है और तुरन्त गिरफ्तार कर जवाहरलाल नेहरू अस्पताल के

उसी सीलन भरे वॉर्ड में डाल दिया जाता है और यह चक्र जारी रहता है। जाहिर था कि इरोम शर्मिला एवम उसके समर्थकों ने क्या योजना बनायी है उसके बारे में सरकार पूरी तरह गाफिल रही। उसे यही लगा कि इस बार भी इरोम शर्मिला को उसी तरह कांगला किले के आगे से हिरासत में लिया जाएगा, जहां वह हर साल पहुंचती रही है। साफ था कि जब इरोम शर्मिला के दिल्ली पहुंचने की खबर मीडिया ने दी, मणिपुर के वरिष्ठ अधिकारियों के चेहरे देखने लायक थे। मणिपुर के मुख्यमंत्री इबोबी सिंह ने भी इस योजना के बारे में अनभिज्ञता जतायी।

साफ है कि दन्तकथानुमा प्रतीत होता इरोम शर्मिला का संघर्ष आज के वक्त में मणिपुरी अवाम के प्रतिरोध का महत्वपूर्ण प्रतीक बना है जो नीतिनिर्माताओं के हाथों उन्हें झेलनी पड़ती प्रताड़ना और वंचनाओं के खिलाफ लगातार संघर्ष कर रहे हैं। इसका अर्थ रहा है 'राज्य का अत्यधिक सैन्यीकरण' और 'इलाके की अवाम की जिन्दगी और आजादी की कीमत पर सशस्त्र बल अधिनियम जैसे काले कानूनों का बढ़ता प्रयोग'।

यह सूचना जगत की स्थिति पर तीखी टिप्पणी है कि शेष दुनिया इरोम शर्मिला के अनोखे संघर्ष के बारे में महज ढाई साल पहले जान पायी। और वह भी थांगजाम मनोरमा नामक मणिपुरी महिला की सुरक्षा बलों के हाथों बलात्कार और हत्या (11 जुलाई 2004) के बाद उठे प्रचण्ड जनाक्रोश के बाद। मणिपुरी अवाम के इस विद्रोह में भी वहां की महिलाओं ने एक अग्रणी भूमिका अदा की। सुरक्षा बलों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के मद्देनजर बड़ी संख्या में बुजुर्ग महिलाओं ने असम राइफल्स के मुख्यालय के सामने बिल्कुल निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन किया और बैनर लहराया 'भारतीय सेना आओ हम पर अत्याचार करो', 'भारतीय सेना हमारे मांस के चीथड़े नोचो'। अन्दाजा ही लगाया जा सकता है कि इस ऐतिहासिक प्रदर्शन के बाद समूचे मणिपुर में थांगजाम मनोरमा के हत्यारों को सजा दिलाने एवम कुख्यात सशस्त्र बल अधिनियम खारिज करने को लेकर जारी आन्दोलन ने और जोर पकड़ा।

जाहिर है कि इरोम शर्मिला के इस ऐतिहासिक सत्याग्रह को लेकर नज़र आ रहा 'चुपी का यह षडयंत्र' कोई अपवाद नहीं है। उत्तर पूर्व की घटनाओं को लेकर शेष भारत में निरन्तर व्याप्त विराट मौन का ही यह हिस्सा है। आप यह भी कह सकते हैं कि कुल मिला कर उत्तर पूर्व का समूचा वजूद आज भी आम जनसाधारण की बात छोड़ दें, जागरूक लोगों के 'चेतना के हाशिये पर' ही है। 'सैन्यीकरण की मुखालिफत और सशस्त्र बल अधिनियम की वापसी के लिए बनी एक राष्ट्रीय अभियान कमेटी' ने चन्द साल पहले ठीक ही लिखा था : 'हथियारबन्द उग्रवादी, एक दूसरे समुदाय के आपस के झगड़े, सुरक्षा बलों के साथ होने वाली मुठभेड़...और दूसरी तरफ पारम्परिक परिधान में नाचते हुए सुंदर युवक एवं युवतियां। हकीकत यही रही कि उत्तरपूर्व हम सभी के लिए परस्पर विरोधी प्रतिमाओं का कोलाज रहा है, जो यही उसके पीछे छिपे यथार्थ के बारे में हम कितना कम जानते हैं!'

आखिर समाज के प्रबुद्ध तबके से जुड़े लोग भी क्यों नहीं जान पाये कि सात सूबों के इस 'सप्त भगिनियों' / 'सेवन सिस्टर्स' के समूह में से एक की धरती पर फौजी बूटों तले

कायम किये जा रहे 'बर्बरता के समान्यीकरण (normalisation of brutality) के खिलाफ बहन इरोम का 'एकला चलो' मार्का संघर्ष चल रहा है। वे कौन से कारण हैं कि मुल्क के शांतिदूत कहकर नवाजे जाते फौजियों द्वारा मुल्क की अवाम के जनतांत्रिक अधिकारों के हनन के सिलसिले को लेकर हम सब बेखबर रहे या हुक्मरानों द्वारा फैलाये जाते तमाम गल्प का चुपचाप सेवन करते रहे कि 'मुल्क की एकता और अखण्डता' की हिफाजत के लिये इस किस्म की घटनाओं से बचा नहीं जा सकता।

o o

इसमें कोई दो राय नहीं कि इस किस्म की फर्जी मुठभेड़ों की खबरें, जैसी इस इलाके में नज़र आती हैं, उत्तर भारत के किसी अन्य क्षेत्र में सामने आतीं तो उन्हें लेकर जबरदस्त बवेला मचता लेकिन वे तमाम क्षेत्र जो 1958 से लागू किये गये 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम के तहत आते हैं वहां गोया सुरक्षा बलों को इस किस्म के काण्डों को अंजाम देने की 'कानूनी छूट' मिली है। अगर आप इस अधिनियम के प्रावधानों पर नज़र डालें तो पता चलेगा कि इस कानून के तहत सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार दिये गये हैं और अगर वे ज्यादातियां भी करें तो भी चाह कर भी लोग अदालत की शरण नहीं ले सकते हैं।

इस अधिनियम के तहत सरकार किसी क्षेत्रविशेष को अशांत क्षेत्र घोषित कर सकती है अगर वह इस नतीजे तक पहुंचती है कि 'उपरोक्त क्षेत्र या उसका एक हिस्सा एक ऐसी अशांत या खतरनाक स्थिति में है कि नागरिक शासन की मदद के लिये फौजी बल का इस्तेमाल जरूरी है।' तब संबंधित प्रशासक 'ऐसे क्षेत्र या उसके किसी हिस्से को जो किसी राज्य या केंद्र शासित प्रदेश का हिस्सा है अशांत क्षेत्र घोषित कर सकता है।'

अधिनियम का सेक्शन चार किसी कमिश्नर अफसर, वारंट अफसर या नॉन कमिश्नर अधिकारी को ऐसे क्षेत्र में मिले अधिकार पर रौशनी डालता है। इसके तहत वह 'सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने के लिये गोली भी चला सकता है जिसमें किसी की मौत भी हो सकती है' कानूनी निर्देश के तहत वह 'हथियार ले जा रहे व्यक्तियों के खिलाफ यहां तक कि पांच व्यक्तियों के इकट्ठा होने पर प्रतिबन्ध का उल्लंघन करने पर' भी इस काम को अंजाम दे सकता है।

अगर उसकी राय में कोई घर या टिला आतंकवादियों की शरणस्थली हो या उसका इस्तेमाल होने की गुंजाइश हो तब वह उस ढांचे को गिरा सकता है। वह बिना किसी वारंट के किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है जिसने उसके मुताबिक कोई संज्ञेय अपराध किया हो या पर्याप्त सन्देह हो कि वह करने जा रहा है। सशस्त्र बल अधिनियम की धारा पांच यह कहती है कि इस तरह गिरफ्तार किये किसी भी व्यक्ति को बिना विलम्ब के नजदीकी पुलिस थाने में पहुंचाया जाना चाहिये। तो धारा छह बताती है कि इस अधिनियम के तहत काम कर रहे किसी भी व्यक्ति के खिलाफ कानूनी कार्रवाई केन्द्र सरकार की अनुमति से ही मुमकिन है।

अन्दाजा लगाया जा सकता है कि जहां शांत क्षेत्रों में गोली चलाने के लिये सबडिवीजनल मैजिस्ट्रेट या उनके ऊपर

के किसी अधिकारी की अनुमति आवश्यक होती है वहीं ऐसे कथित 'अशांत' इलाकों में एक अदद अधिकारी कितना निरंकुश हो सकता है। दूसरे साधारण नागरिकों के लिये अपने ऊपर हुए अत्याचार की जांच शुरू करवाने के लिये केंद्र सरकार से गुहार लगाना कितना लम्बा, खर्चीला और पीड़ादायी अनुभव होता होगा।

पता नहीं कितने लोग जानते होंगे कि भारतीय अराम के असन्तोष को काबू में रखने के लिये अंग्रेजों ने जिन दमनकारी कानूनों को लागू किया था, यह कानून भी उन्हीं का सुधरा हुआ संस्करण है जिसे 1958 में तत्कालीन लोकसभा में महज तीन घण्टे की चर्चा के बाद और राज्यसभा में महज चार घण्टे की चर्चा के बाद पास किया गया था। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान सामने आये जनविप्लव को रोकने के लिये अंग्रेजों ने सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अध्यादेश 1942 जारी किया था। 1953 में असम सरकार ने इसी की तर्ज पर असम मेण्टेनन्स आफ पब्लिक आर्डर एक्ट नागा एवं तुएनसंग पहाड़ियों में आपातकाल की घोषणा करते हुए जारी किया। 1955 में असम डिस्टर्ब एरियाज एक्ट/असम अशांत क्षेत्र अधिनियम पारित हुआ। इसके बाद सशस्त्र बल (असम-मणिपुर) विशेष अधिकार अध्यादेश मई 1958 में जारी हुआ जिसे इस देश की संसद ने सितम्बर में कानून में तब्दील किया। और इस तरह आजाद भारत में जनता को नियंत्रण में रखने के लिये अब तक बने तमाम कानूनों में सबसे दमनकारी कहे गये 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम का आविष्कार हुआ था।

संविधान निर्माण की बहसों पर नज़र डालें तो आप को दिखाई देगा कि नागाओं द्वारा अलग हो जाने की मांग को लेकर नगारिक प्रशासन की मदद के लिये सेनाओं को भेजने पर उसमें विचार हुआ था। यहां इस बात को भी नहीं भूलना चाहिये कि नागाओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की महात्मा गांधी ने भी हिमायत की थी। आज इस बात को फिर पढ़ते हुए आश्चर्य हो सकता है कि जलियांवाला बाग काण्ड के अनुभवों से वाकिफ संविधानसभा में बैठे लोगों ने स्वतंत्र भारत में फौजों को अपनी कार्यवाहियों के लिए दण्डमुक्ति/सुरक्षा/immunity प्रदान करने की योजना पर बिल्कुल गुरेज नहीं किया।

मुख्तसर में कहें तो विगत 48 सालों से मणिपुर, असम तथा उत्तर पूर्व के तमाम इलाकों में जारी इस अधिनियम ने अराम से प्रतिरोध करने, अपने हकों की बहाली के लिए कानूनी लड़ाई लड़ने या किसी की जनतात्रिक गतिविधि करने का अधिकार गोया छीन सा लिया है। वे तमाम साधारण लोग जो शांति एवम सुरक्षा की जिन्दगी जीना चाहते हैं उन्हें इसके तहत आसानी से 'आतंकवादी' या पाबंदी लगाये गये आतंकवादी संगठनों से जुड़े होने के बारे में 'सन्देह' के दायरे में रखा जा सकता है। मानवाधिकार की बहाली के लिये संघर्षरत कार्यकर्ता जो फौजी ज्यादतियों का महज दस्तावेजीकारण कर रहे हैं या उसकी समाप्ति के लिये कोशिश में लगे हैं, उन्हें भी इसके तहत उठाया गया है, यातनाओं का शिकार बनाया गया है या मार दिया गया है। हकीकत यही कि विगत 48 साल से इस पर हो रहे अमल ने वहां के निवासी 380 लाख लोगों को आज

भी अघोशित आपातकाल की स्थिति में रहने के लिये मजबूर किया है।

यह उन दिनों की बात है जब इंदिरा गांधी वजीरे आजम थी। उन दिनों ब्रिगेडियर सैलो, जिन्होंने 31 साल तक सेना में नौकरी की थी, ने एक पत्र लिखा था (1974) जिसमें उन्होंने मिजोरम के हालत पर रौशनी डाली थी, "सभी किस्म के मानवाधिकारों के उल्लंघन के कारण आज की तारीख में मिजोरम के तमाम गांव और समूची आबादी अलगाव में पड़ी है। अगर आप के सामने इससे विपरीत हालात की कोई तस्वीर रखी गयी हो, तो वह पूरी तरह झूठ है।" (सन्दर्भ : Where 'Peacekeepers' Have Declared War - National Campaign Committee against Militarisation and Repeal of AFPSA, 2000, Delhi) बिना किसी सन्देह के यह बात कही जा सकती है कि ब्रिगेडियर सैलो ने मिजोरम के सन्दर्भ में जो बात आज से 30 साल से अधिक समय पहले कही थी, वह पूरे उत्तर-पूर्व के लिए आज लागू की जा सकती है।

इसके बारे में दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है? क्या सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम वापस होगा? आखिर इरोम शर्मिला की हड़ताल कब टूटेगी?

ताज़ा समाचार यह है कि इरोम शर्मिला थानु की भूख हड़ताल जारी है। अगर पहले स्थान इम्फाल के जवाहरलाल नेहरू अस्पताल का सीलनभरा वार्ड था तो आज वह उसी स्थिति में 'एम्स' के निजी वार्ड में भर्ती है जहां उन्हें नाक से द्रव्य चढ़ाया जा रहा है। अभी पिछले महीने की ही बात है जब बीबीसी ने इस 'मैराथन भूख हड़ताल पर एक रिपोर्ट जारी की थी (Tuesday, 19 September 2006, 09:46 GMT 110:46 UK) जिसमें उसने इरोम शर्मिला के लगातार गिरते स्वास्थ्य की चर्चा की थी : "डॉक्टरों का कहना है कि उसकी भूख हड़ताल का सीधा असर उसके शरीर के आम कार्यप्रणाली पर हो रहा है - उसकी हड्डियां कमजोर हो चली हैं और कई अन्य चिकित्सकीय समस्यायें भी पैदा हुई हैं।"

अब जहां तक काले कानून की वापसी का सवाल है तो वहां पर यथास्थिति बनी हुई है। यह कहा जा रहा है कि ढाई साल पहले मणिपुर में जारी व्यापक जनसंघर्ष के बाद केंद्र सरकार की ओर से कानून की समीक्षा के सन्दर्भ में जिस जीवन रेड्डी कमेटी का गठन किया गया था उसने सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम की वापसी की सिफारिश की है। मीडिया के एक हिस्से में आयी रिपोर्टों के मुताबिक, कमेटी द्वारा पेश की गयी 146 पेज की रिपोर्ट बताती है कि "प्रस्तुत अधिनियम कई सारे मायनों में बहुत अधूरा है, बिल्कुल निरंकुश है।" रिपोर्ट के मुताबिक "जिन भी कारणों से हो, उपरोक्त अधिनियम आज की तारीख में अत्याचार का प्रतीक, घृणा की वस्तु और भेदभाव और ज्यादती का उपकरण बना है।" (द हिन्दू, 8 अक्टूबर 2006)

कुछ विश्लेषकों के मुताबिक अगर उपरोक्त रिपोर्ट को ध्यान से पढ़ा जाये तो यह राय भी बनती है कि जीवन रेड्डी कमेटी ने महज इतना ही चाहा था कि सशस्त्र बल (विशेष

शेष पृष्ठ 16 पर.....

जब एक्टिविस्ट और लेखिका कल्याणी मेनन सेन अपने सहयोगियों के साथ बवाना (दिल्ली) की पुनर्वास कालोनी पहुंची, वहां उजड़ के पहुंची हालीमा ने तकरीबन रोते हुए उन लोगों से यही कहा था – ऐसे जीने से तो बेहतर है कि मर जाएं। हालीमा उन हजारों लोगों में से है जिन्हें 2004 में दिल्ली के यमुना पुश्ता से रातों-रात उजाड़ दिया गया। ज़िन्दगी बिखरी, परिवार बिखर गया, रोजी-रोटी के सहारे छिन गये। अब वो ऐसी पुनर्वास कालोनी में रह रहे हैं जिसमें पानी नहीं, बिजली नहीं, रोजगार के सम्पर्क नहीं, वहां से बाहर मुख्य दिल्ली में जाओ तो आने-जाने का खर्च इतना कि रोजगार करना न करना बराबर। दूसरे ये पुनर्वास कालोनी किसी तरह के वास का दिलासा नहीं देती ये उजाड़ की निरन्तरता ही है। ये जगहें औरतों के लिए दुःस्वप्न हैं। ज़्यादातर औरतें घरेलू काम करती थीं जिनके रोजगार छूट चुके हैं इन नई जगहों पर वे रात-दिन शारीरिक शोषण के डर के बीच जीती रहती हैं। हालीमा बवाना में अपने बीमार पति और नातिनी के साथ रह रही है जबकि उसकी बेटी और दामाद अभी भी बीच दिल्ली में... उन्हें यहां बवाना में अभी काम की कोई गारण्टी नहीं है।

जनवरी 2004 में पर्यटन मंत्रालय ने तय किया कि यमुना के किनारे की तकरीबन 100 एकड़ की पट्टी का इस तरह विकास किया जाये कि वह पर्यटकों को आकर्षित कर सके। इसके लिये फव्वारे और पार्क बनाये जाने हैं... शहर के बीच हरियाली के स्वर्ग बनेंगे और मनुष्य को बीहड़ों में निर्वासित कर दिया जाएगा। दिल्ली सरकार और नगर निगम दोनों को सुप्रीम कोर्ट ने इस बात के लिये डांट पिलाई थी कि दोनों ही यमुना का प्रदूषण रोकने में नाकामयाब रहे हैं। इसलिए नगर निगम ने यमुना प्रदूषण और उसके किनारे की गंदगी का पूरा ठीकरा झोपड़पट्टियों के सिर फोड़ दिया। नगर निगम दिल्ली ने बताया कि यमुना प्रदूषण के लिये झोपड़पट्टी वाले ही ज़िम्मेदार हैं जबकि दिल्ली में सक्रिय तमाम सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस बात को तर्कों के साथ रद्द की है। जिनके पास न पानी के कनेक्शन हैं न सीवर लाईन वे नदी में प्रदूषण कैसे फैला सकते हैं ?

जिस समय यमुना पुश्ता के सौन्दर्यीकरण की यह योजना आई एक अनुमान के अनुसार 35000 परिवार यानी तकरीबन डेढ़ लाख लोग करीब तीस साल से उस जगह पर रह रहे थे। इनमें से ज़्यादातर लोग सिर पर बोझा ढोने वाले, रिक्शे वाले, घरेलू कर्मचारी, गाड़ी खींचने वाले और कूड़ा बीनने वाले हैं जो अधिकतर उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से आए हैं। इनमें एक बड़ी संख्या उन निर्माण मजदूरों की है जिन्हें एशियाई

खेलों के समय दिल्ली लाया गया था और जो बाद में यमुना पुश्ता में बस गये। इसके अलावा फेरीवाले, छोटी दुकानों वाले और यमुना के कछार में साग भाजी उगाने वाले लोग भी रहते हैं। कोर्ट के आदेश के बाद दिल्ली के ताकतवर लोगों ने लगातार कैम्पेन चलाया और झोपड़पट्टी वालों को दिल्ली की गंदगी और अस्तव्यस्तता के लिए अपराधी घोषित करना शुरू कर दिया। इसके बाद जनवरी 2004 से अप्रैल 2004 के बीच पूरा यमुना पुश्ता साफ कर दिया गया। खतरा केंद्र नाम के एक रिसोर्स सेन्टर ने सर्वे के द्वारा यह साबित किया कि 27000 परिवारों को यमुना पुश्ता से उजाड़ दिया गया। इनमें से 6000 परिवारों को पुनर्वासित किया गया बाकी 1 लाख लोग यूं ही बेसहारा छोड़ दिये गये। ऐसा इसलिये भी हुआ कि न्यायालयों का मानना था कि ऐसे लोगों को पुनर्वासित करना चोरों को पुरस्कार देने के समान है। अन्ततः दिल्ली को बनाने वाले, दिल्ली को चलाने वाले, दिल्ली को साफ करने वाले चोर साबित कर दिये गए और समाधियों, पार्कों, सरकारी आवासों, बंगलों और शापिंग मॉलों की दिल्ली शाह साबित हुई।

एक अनुमान के अनुसार यमुना पुश्ता में रहने वाले लोगों में से 70 प्रतिशत के करीब मुसलमान थे। जो सारे के सारे इन आरोपों को झेलते थे कि वे बांग्लादेशी घुसपैठिये हैं जो कि भारत की समस्या को बढ़ा रहे हैं। जबकि इनमें से ज़्यादातर के पास राशन कार्ड थे और ये वोटर लिस्ट में नामांकित थे। हालीमा के पास राशन कार्ड था लेकिन उसकी बेटी को यह कहकर राशन कार्ड देने से इनकार कर दिया गया कि वह बांग्लादेशी है। भारत-पाकिस्तान और बांग्लादेश का विभाजन भी सिर्फ एक घटना नहीं थी वह रूप बदल-बदलकर अपनी निरंतरता बनाये हुए है। लखनऊ में झोपड़पट्टियों में रहने वाले लोग जो बंगला भाषी हैं और मुसलमान हैं वे बार-बार संदेह के घेरे में आते रहते हैं। इन्ही संदेहों के कारण बार-बार उन्हें जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित किया जाता रहता है। हमारे अपने अध्ययन के अनुसार लखनऊ में जिन्हें बांग्लादेशी कहा जा रहा है वे अधिकतर फरक्का या आसाम के निवासी हैं और बाढ़ तथा बेरोजगारी की वजह से स्थानांतरित (माइग्रेट) हुए हैं। उपमहाद्वीप के तीनों देश आपस में एक-दूसरे को वे कारण उपलब्ध कराते हैं जिनके मूल में विभाजन है, संदेह है, साम्प्रदायिकता है, घृणा है और जिनके नाम पर नागरिकों के अधिकार लगातार छीने जाते रहते हैं। मेहनत करते हुए हाथ हिन्दुस्तानी होते हैं लेकिन छत मांगता हुआ सर बांग्लादेशी हो जाता है।

इबो ब्यूरो
इतिहासबोध से साभार

लोकसाहित्य में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा (आल्हा-ऊदल)

बाबूलाल दहिया

वर्तमान विकास की धारा ने जहाँ आदमी के शारीरिक श्रम को घटाया है वहीं उसने आदमी को मानसिक स्तर पर भी काफी एकाकी बना दिया है। आज प्रत्येक व्यक्ति बाज़ार से सारी सुख-सुविधाओं को पैसों के जरिये खरीद सकता है इसलिए वो दिन-रात पैसे एकत्र करने की धुन में रहता है। आज यदि हमें संगीत का आनन्द लेना है तो उसे भी हम बाज़ार से खरीदकर अपने घर में ही टेपरिकॉर्डर, सीडी वगैरह लाकर सुन सकते हैं। परन्तु इन्टरनेट के द्वारा आज दुनिया इतनी सिमट गयी है कि यदि ये आपके पास उपलब्ध है तो आपको इधर-उधर कहीं जाने या किसी से मिलने की जरूरत नहीं है। आप इन्टरनेट पर ही सारे तरह के संगीत का आनन्द ले सकते हैं। परन्तु विकास की इस दौड़ ने हमसे हमारी साझी विरासतों को छीन लिया है। ये साझी विरासतें हमें सिखाती थी मानवीय मूल्य, धर्मनिरपेक्षता, विविधता में एकता। साझी विरासतों का एक पक्ष हमारा लोकसंगीत (गायन) भी है। प्रत्येक क्षेत्र का लोकसंगीत वहाँ की जीवन शैली के अनुरूप ही रचा जाता है। लोक संगीत की कई विधायें वहाँ के आम जनमानस में प्रचलित होती हैं। ये संगीत वहाँ की एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से सुनकर सीख लेती है। जिसमें नई पीढ़ी के लिए संदेश भी होता है जिन्हें वे बिना किसी दबाव के ग्रहण करके अपने जीवन में उतारते जाते थे।

आल्हा गायकी भी इसी तरह बुन्देली गायन की एक लोक विधा है क्योंकि वीर छन्द आल्हा राशों के प्रथम रचनाकार जगनिक भाट बुन्देलखण्ड आंचल के टीकमगढ़ जिले में पैदा हुए थे। लगभग 600 वर्षों तक लोक कंठ में बसकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुखर होने वाला यह वीर काव्य अन्य क्षेत्रीय बोलियों में भी अनुदित होता रहा। आज से 50-60 साल पहले राजा-सामन्तों के दरबार से लेकर झोंपड़ी तक आल्हा के गीत की तान बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड के गांव-गांव में सुनाई पड़ती थी। सावन-भादों वर्षा की झड़ी के समय यह गीत चौपालों में अक्सर गाया जाता था। समाज में इसका इतना प्रभाव था कि उस समय अधिकांश लोग अपने लड़कों का नाम आल्हा राशो के पात्रों से जोड़कर ही आल्हा, ऊदल, इंदल, मलखान, लाखन तथा पृथ्वीराज आदि रखते थे।

बुन्देलखण्ड में जन्मे जगनिक भाट का आल्हा राशो इस तरह का जन इतिहास है, जो लगभग छः सौ वर्षों तक लोक कंठ में पीढ़ी दर पीढ़ी बसता अनेक बोलियों में अनुदित होता रहा। आल्हा राशो के मुख्य पात्र आल्हा, ऊदल, मलखान, ब्रह्म जैसे राजपूत आमत्य हैं तो राजपूत इतर, देबा ब्राह्मण, खुन खुन कोरी, धनुहा तेली, लला तामोली, मदन गडरिया, मन्ना

गूजर और रूपना बारी आदि भी। उसमें एक पात्र तालहन सैयद है, जो बनारस के सरदार और आल्हा, ऊदल, मलखान के पिता दस्यराज बस्यराज के मित्र भी हैं। इसलिये वे आल्हा, ऊदल, मलखान के पिता तुल्य चाचा तथा संरक्षक भी हैं। तभी तो जगनिक भाट बार-बार ऊदल के मुंह से यह बात कहलवाता रहता है कि-

चाचा, चाचा कहि गोहरायो, चाचा मोरे तलसी राय।

बारे मर गये बाप हमारे, गोद तुम्हारी गये बैठाय।।

जिसका उत्तर तालहन सैयद यह कहकर देते हैं कि-

जहां पसीना गिरे आल्हा का, सैयद दे हैं खून बहाय।।

फिर चाहे नैनागढ़, पथरीगढ़, माड़ौ अथवा बामन लड़ाइयों का कोई भी गढ़ हो, हर युद्ध में तालहन सैयद अपने सातों बेटों के साथ मौजूद हैं। जहां कहीं किसी राजा के सैन्यबल का भेद लेना हो या उन राजकुमारियों को सांत्वना देना हो जो अपने तोते को दूत बनाकर राजकुमारों की वीरता से मुग्ध होकर यह संदेशा भिजवा चुकी है कि 'या तो ब्याह होय महुबे में या जीवन भर रहों कुमारि', वहां भी सैयद आल्हा ऊदल, मलखान, देवा आदि के साथ जोगी के भेष में मौजूद हैं और वरिष्ठ होने के कारण जोगियों के महंत भी हैं। कुछ जगह तो राजकुमारियां जब उनको गंगा की सौगंध खिलाती हैं कि वे उन्हें ब्याहने आयेंगे तो गंगाजल उठाकर तालहन सैयद ही उस राजकुमार की ओर से उनसे वायदा करते हैं कि उन्हें वे ब्याहकर अवश्य महोबा ले जायेंगे।

बाकी राशो ग्रन्थों के रचनाकार अपने नायकों को सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अग्निवंशी आदि श्रेष्ठ कुल का सिद्ध करके उसे महिमा मंडित करते हैं, इसके विपरीत जगनिक भाट बार-बार अपने नायकों को 'ओछी जाति बनाफर राय' कहता है। ओछी जाति के होने के कारण न तो श्रेष्ठ कुल के राजपूत उनके साथ चल सकते हैं और न ही कोई राजा अपनी लड़की को खुशी से ब्याह सकता। यह अलग बात है कि कोई राजकुमारी उनकी वीरता से मुग्ध होकर उन्हें मन ही मन वरण कर ले, पर जब ब्याहने जायेंगे तो श्रेष्ठ कुल के क्षेत्रीय तो जाने से रहे, उनके साथ खुन खुन कोरी, धनुहा तेली, मदन गडरिया, मन्ना गूजर जैसे गैर क्षेत्रीय ही बाराती होंगे। देबा ब्राह्मण जैसे पंडित होंगे जिनके मुंह में वेदमंत्र और बगल में ढाल तलवार बंधी होगी। रूपन बारी जैसे नाई-बारी होंगे जो विवाह की रस्म भी अदा करते जायें और क्रोध से जला-भुना राजकुमार अपनी बहन की ओछी जाति के साथ ब्याह होता देख यदि तलवार खींच ले तो अपनी तथा साथी दूल्हे की रक्षा भी कर सकें।

विवाह में एक रस्म होती है समधी से समधी की भेंट, आल्हा, ऊदल और मलखान के पिता उनके बाल्यावस्था में ही वीरगति प्राप्त कर चुके थे। चन्देल राजा परिमर्दि देव के लिये यह अपमान की बात थी कि अपने आत्म्य के विवाह में समधी बन कर खड़े हों, पर सिर में राजपूती पगड़ी बांध वर पक्ष के समधी की भूमिका के लिए सैयद हर विवाह में मौजूद हैं क्योंकि सलाहकार, संरक्षक और पिता की भूमिका अदा करने वाला तालहन सैयद की तरह दूसरा है ही कौन ?

आल्हा एक वीर काव्य है, जिसमें अन्य काव्य ग्रन्थों की तरह कल्पना तत्व का होना स्वाभाविक था। उसने समाज को अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास भी दिये, पर इसके बावजूद भी उसमें धर्मनिरपेक्षता के तत्व मौजूद हैं, जिसके आदर्श पात्र 'ताल्हन सैयद' हैं। आज जिस तरह देश में साम्प्रदायिक

शक्तियां सिर उठा रही हैं, हमारी साझी विरासतें जो हमें सदियों से भाईचारे व एकता के सूत्र में बांधती आई हैं उन्हें जिस प्रकार चिन्हित कर के चुन-चुन कर नष्ट किया जा रहा है तथा कुछ राज्यों में तो उन विघटनकारी शक्तियों को सरकारी संरक्षण भी मिल रहा है, ये गहन चिन्ता की बात है। इसलिए समय की आवश्यकता है कि ऐसे ग्रन्थों का पुनः अनुशीलन हो जो समाज को तोड़ने के बजाय जोड़ने का काम करते हों। कहना न होगा कि जगनिक का आल्हा राशो ऐसा ही ग्रन्थ है और उसके आदर्श पात्र तालहन सैयद कुछ इसी तरह के पात्र हैं जो हमारे आज के लोकतंत्रीय धर्मनिरपेक्ष समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। आल्हा ऊदल का तालहन सैयद बुंदेलखण्ड, बघेलखण्ड लोक साहित्य में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा को सुदृढ़ करता नज़र आता है।

पृष्ठ 13 का शेष.....

अधिकार) अधिनियम के तमाम विशेषाधिकार एक अन्य कानून 'गैरकानूनी गतिविधियां (प्रतिबंध) अधिनियम (Unlawful activities Prevention Act) 1967 में स्थानान्तरित किये जायें। इसका अर्थ सही होगा कि एक तरह से सिर्फ उत्तर-पूर्व एवम जम्मू-कश्मीर में लागू सशस्त्र बल अधिनियम को समाप्त कर उसके अधिकार ऐसे एक संशोधित कानून में डाल दिये जायें जो समूचे देश में लागू हो सकता हो और जिसमें सशस्त्र बल अधिनियम के सभी विवादास्पद प्रावधान समाहित हों।

निश्चित ही ऐसे किसी भी कदम का पुरजोर विरोध करना होगा। ऐसे तमाम लोग जो अमन, इन्साफ और प्रगति के आकांक्षी हैं उन्हें एकत्र होकर ऐसी साजिशों को बेनकाब करना होगा।

वैसे यह भी सुना जा रहा है कि केंद्र सरकार ने अपनी गंद मणिपुर राज्य सरकार के पाले में डाल दी है और कहा है कि पूरी परिस्थिति की समीक्षा करके आप ही तय कर लें।

बीबीसी के संवाददाता से बात करते हुए इरोम शर्मिला ने उल्लेख किया था "मेरी भूख हड़ताल मणिपुर की जनता की तरफ से है। यह कोई व्यक्तिगत लड़ाई नहीं है - यह प्रतीकात्मक है। वह सच्चाई, प्यार और अमन का प्रतीक है।"

इस बात का विशेष उल्लेख किया जाना जरूरी है कि एक तरफ जहां इरोम शर्मिला हिन्दोस्तां की हुकूमत के खिलाफ अपने असमान संघर्ष में पूरे जी जान से जुटी है, वहीं उसके इस संघर्ष में कई सारे आत्मीय जन उसके पीछे मजबूती से खड़े हैं। इस भूख हड़ताल के चलते भाई सिंहजीत की सरकारी नौकरी भी छूट गयी क्योंकि उसे लगा कि अपनी बहन का निरन्तर साथ दिया जाना जरूरी है, यह भी सही है कि इस कालावधि में उनके परिवार का दिवाला निकल चुका है, क्योंकि उन पर काफी कर्ज़ हो चुका था।

लेकिन शर्मिला थानु की 75 वर्षीय मां इरोम सखी ने इस दौरान जो कुछ झेला है उसके सामने इन आप्तजनों के त्याग की चमक फीकी पड़ती दिखती है। जानने योग्य है कि 2 नवम्बर 2000 के उस ऐतिहासिक दिन अपनी बिटिया को आशीर्वाद देने के बाद से वह कभी अपनी बेटी से मिली नहीं है। अपने आंखों से टपकने वाले आंसुओं को रोकने की कोशिश किये बिना इरोम सखी ने एक पत्रकार को बताया था : 'यह मुमकिन है कि बिटिया को देख कर मेरे भावुक हो जाने से उसका संकल्प कमजोर पड़ सकता है। और मैं नहीं चाहती कि मेरी बिटिया इन्सानियत की बेहतरी के लिए छेड़ी गयी इस लड़ाई में हार जाये।'

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका

नई दिल्ली-110067

टेलीफैक्स : 011-26177904

ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए